ओ३म्

क्या वृक्षों में जीव है ?

अर्थात

स्थावर--जीव--मीमांसा

लेखक—

श्री पं० महामुनि शास्त्री विद्याप्रभाकर

प्रकाशक—

हरयाणा साहित्य संस्थान
गुरुकुल झज्जर (रोहतक)

प्रथम संस्करण	शिवरात्रि २०२६ वि०	मूल्य २.००
१०००	६ मार्च १९७० ई०	दो रुपये

मुद्रक—वेदव्रत शास्त्री विद्याभास्कर, आचार्य प्रिंटिंग प्रेस, दयानन्दमठ, रोहतक।

दूरभाष ५७४

क्या वृक्षों में जीव है

इस विषय पर आर्य विद्वानों में बहुत पहले से मतभेद चला आरहा है। इस विषय पर वीतराग तर्कशिरोमणि स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती और प्रकाण्ड पण्डित स्वनामधन्य पं० गणपति शर्मा में वादविवाद तथा शास्त्रार्थ भी हुये तथा लेखनी द्वारा भी संवाद चला। फिर भी आज तक आर्य जनता तथा आर्य विद्वानों में इस विषय पर मतभेद ही चल रहा है। इस विषय पर स्वाध्यायशील आर्यबन्धु अब भी पण्डितों से शंकायें करते ही रहते हैं।

हरयाणा प्रान्त में पूज्य पं० बस्तीराम जी ने आर्यसमाज का सारे जीवन प्रचार किया। वे भी इसी मत के पोषक थे कि वृक्षों में जीव नहीं है। उनके बनाये हुये हजारों आर्यसमाजी हैं वे भी सदैव इसी का प्रचार करते रहते हैं। पं० बस्तीराम जी की युक्ति वा तर्क भी स्वामी दर्शनानन्द जी के समान अकाट्य और प्रबल थी। मैं भी इस विषय पर अनेक वर्षों से खोज करता रहता हूँ। अनेक पुस्तकें भी पढ़ीं। १८ फरवरी १६५२ ई० को पूज्य पं० रामचन्द्र जी देहलवी शास्त्रार्थ शिरोमणि की अध्यक्षता में "वृक्षों में जीव है वा नहीं" इस विषय पर गुरुकुल झज्जर के वार्षिकोत्सव पर ब्रह्मचारियों का वाद-विवाद भी करवाया था। उसमें भी आर्य जनता ने बड़ी रुचि ली थी। पूज्य पं० रामचन्द्र जी देहलवी स्वामी दर्शनानन्द जी के शिष्य थे किन्तु वे भी महर्षि दयानन्द के समान वृक्षों में जीव मानते थे। उस उत्सव पर पूज्यपाद स्वामी आत्मानन्द जी महाराज भी पधारे थे वे भी वृक्षों में जीव मानते थे।

मैं महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर स्वाध्याय करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वृक्षों में जीव है। वृक्षों में जीव नहीं है इस भ्रम को दूर करने के लिए सदैव यत्नशील रहता हूँ। श्री स्वामी मंगलानन्द पुरी की पुस्तक "वृक्ष में जीव है" मेरे पास थी। इसे माननीय पं० महामुनि जी को इसी उद्देश्य से स्वाध्यायार्थ दिया था कि इस भ्रम को दूर करने के लिये अच्छी प्रमाणित पुस्तक लिख सकें। पूज्य पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती जी ने भी पं० महामुनि जी को इस विषय पर लिखने के लिये खूब उत्साहित किया। मैं तथा मेरे कई ब्रह्मचारी इस विषय पर लिखना चाहते थे किन्तु जब मैंने यह देखा कि व्याकरण, दर्शन और वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ पं० महामुनि जी अपनी लेखनी इस विषय पर लिखने के लिये उठा रहे हैं तो मुझे अत्यन्त हर्ष हुवा और मैंने अपना लिखने का विचार छोड़ दिया।

पण्डित जी के अनेक वर्षों के पुरुषार्थ के पश्चात् यह पुस्तक पूरी हुई। मेरे पास भी पं० महामुनि जी ने इस पुस्तक को देखने के लिये भेजने की कृपा की। मुझे यह पुस्तक बड़ी अच्छी लगी और इसका प्रकाशन अवश्यमेव होना चाहिये यह विचार भी संकल्प का रूप धारण करने लगा। पूज्य सिद्धान्ती जी इसे आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब की मासिक पत्रिका 'आर्य मर्यादा' में लेखों के रूपमें क्रमशः प्रकाशित करना चाहते थे। इससे आर्यजनता का लाभ तो होता किन्तु इस जटिल सिद्धान्त पर पुस्तक के विना स्थायी साहित्य से लाभ उठा कर पूर्णतया विचारने का अवसर आर्यबन्धुओं को प्राप्त नहीं होता अतः सर्वथा धनाभाव होने पर भी मैंने पूज्य सिद्धान्ती जी के आगे ही पं० कपिलदेव जी शास्त्री अधिष्ठाता गुरुकुल भैंसवाल से प्रार्थना की कि यह पुस्तक छपनी चाहिये। गुरुकुल झज्जर और गुरुकुल भैंसवाल इस पुस्तक के प्रकाशन का व्यय भार आधा आधा वहन कर लें। पं० कपिलदेव जी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और फलस्वरूप यह पुस्तक आज पाठकों की सेवा में पहुँचाने की मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है।

आदरणीय पं० ओम्प्रकाश जी शास्त्रार्थ महारथी विद्याभास्कर ने जो अपनी पुस्तक 'वृक्ष जड़ हैं" लिखी है उसे भी मैंने आद्योपान्त ध्यानपूर्वक पढ़ा है। पण्डित जी की उस पुस्तक का उत्तर बड़ी योग्यता से और युक्ति प्रमाण सहित आचार्य महामुनि जी ने दिया है।

माननीय ओम्प्रकाश जी ने इस विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिये आर्य पण्डितों का आह्वान किया था। उसे पूज्य सिद्धान्ती जी ने स्वीकार कर लिया है। यथोचित समय प्राप्त होने पर यह शास्त्रार्थ भी होगा। मैं इसके लिये भी यत्न कर रहा हूँ। पं० ओम्प्रकाश जी ने मुझे यह भी कहा था कि जो व्यक्ति मेरे साथ इस विषय पर शास्त्रार्थ करेगा मैं सर्वप्रथम तो उसे सौ रुपये भेंट करूँगा। फिर शास्त्रार्थ करूँगा। यह शास्त्रार्थ भी देखने योग्य होगा। पाठक इसकी प्रतीक्षा करें। प्रचारार्थ इस पुस्तक का मूल्य भी स्वल्प ही रक्खा गया है।

भगवान्देव

ओ३म्

प्रारम्भिक वक्तव्य

१९६४ के अगस्त मास में श्री पूज्यवर जगदेवसिंह जी 'सिद्धान्ती' संसद् सदस्य का पत्र प्राप्त हुआ कि "वृक्षों में जीव नहीं है" इस विषयक एक नई पुस्तक छपी है। उसको मंगवाकर उत्तर लिखिए।

मेरा और श्री सिद्धान्ती जी का विगत २५-३० वर्षों से सम्बन्ध चला आरहा है। मैं उनको अपना ज्येष्ठ बन्धु मानता हूँ। इसलिये उनके इस कथन को आदेशवत् शिरोधार्य करना कर्तव्य समझकर पूर्वोक्त पुस्तक मंगवाकर उसका उत्तर १९६४ के दिसम्बर मास तक लिखकर तैयार कर दिया। तत्पश्चात् उसको श्री सिद्धान्ती जी की सेवा में प्रेषित कर दिया। श्री पूज्य सिद्धान्ती जी ने उसका उचित संशोधन आदि करके १९६५ के अप्रैल मास में पुनः मेरे पास भेज दिया।

श्री पूज्य सिद्धान्ती जी स्वयम् इस पुस्तक का उत्तर भली प्रकार दे सकते थे क्योंकि मेरी अपेक्षा उनका वैदिक सिद्धान्तों का ज्ञान पर्याप्त गम्भीर है और लेखन शैली भी प्रौढ व परिमार्जित है। तथा आर्य जगत् में अन्य भी अनेक विद्वान् हैं जिनको यदि वे लिखने की प्रेरणा देते तो उत्तम रीति से इस पुस्तक का उत्तर दे सकते थे, फिर भी मुझ जैसे लेखन-शैली से अनभिज्ञ व अप्रसिद्ध व्यक्ति के (पूर्वोक्त पुस्तक का उत्तर देने के लिये) निर्वाचन में श्री सिद्धान्ती जी का सौजन्य और मेरे प्रति स्नेह ही मुख्य कारण है। इससे मेरा भी कुछ लाभ ही हुआ है।

मेरे इस लेख से महर्षि दयानन्द जी महाराज के एक वेदानुकूल मन्तव्य पर आर्यसमाज के सम्मान्य नेता तर्क शिरोमणि आदरणीय स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज आदि द्वारा डाले गये आवरण का कुछ-कुछ सम्भेद हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। कालान्तर में आर्य जगत् में ऐसे विद्वान् ऋषियों का अवश्य प्रादुर्भाव होगा जिनके द्वारा इस प्रकार के आवरणों का छेदन भेदन हो जावेगा, ऐसा मेरा दृढ निश्चय है।

अन्त में मैं अपने बन्धुवर श्री ओम्प्रकाश जी शास्त्री विद्याभास्कर का भी आभारी हूँ जिन्होंने अपने स्वतन्त्र विचार लिखकर मादृशजनों को अपने विचार प्रकट करने का अवसर प्रदान किया। पुस्तक के प्रकाशन में कतिपय कारणों से अत्यन्त विलम्ब होगया।

विदुषां वशंवदः—
महामुनि विद्याप्रभाकर

पूर्व-पीठिका

स्वाध्यायशील महानुभावो !

आदरणीय श्री प० महामुनि जी शास्त्री विद्याप्रभाकर आर्यजगत् के ख्यातनामा प्रतिष्ठित विद्वानों में अग्रगण्य हैं, जिन्होंने वेदों वेदाङ्गों का वर्षों मनन किया है। आप हरयाणा विद्यापीठ गुरुकुल भैंसवाल (रोहतक) के आचार्य पद को एकचतुर्थ शताब्दी से सुशोभित करते आरहे हैं। आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। जीवनचर्या अतिसरल है। स्वभाव से विनम्र हैं। ब्रह्मचारियों को विद्यादान ही आप का व्रत है। इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ को पढते हुये पाठक महाशयों को हृदयङ्गम होता रहेगा कि वेदार्थ, दर्शन, प्रक्रिया और व्याकरण रहस्य का आप को विशिष्ट बोध है। पाठक बन्धुओं से मेरा नम्र निवेदन यह है कि इस पुस्तक को पढने से पूर्व निम्नलिखित कुछ 'पदों' का अर्थ दर्शन और व्याकरण के आधार पर हृदय में रख लिया जावे।

१- जीव, २- जीव का स्वरूप, ३- चेतन, ४- जड़, ५- चर, ६- अचर, ७- जङ्गम, ८- स्थावर, ९- प्राणी, १०- अप्राणी, ११- स्वभाव, १२- लक्षण, १३- व्युत्पत्ति, १४, निरुक्ति, १५- प्रमाण १६- तर्क, १७- अन्वय, १८- व्यतिरेक, १९- भाव, २०- अभाव, २१- सत्, २२- असत्, २३- परिभाषा, २४- सम्बन्ध, २५- नित्य, २६- अनित्य, २७-सामान्य, २८-विशेष, २९- योनिज, ३०-अयोनिज, ३१- ब्रह्म, ३२- स्तम्ब, ३३- कारण, ३४- कार्य, ३५- प्रकृति, ३६- विकृति, ३७- अवयव, ३८- अवयवी, ३९- शरीर, ४०- इन्द्रिय, ४१- मन, ४२- बुद्धि, ४३- प्राण, ४४- अन्तःकरण, ४५- जागरित, ४६- स्वप्न, ४७- सुषुप्ति, ४८- तुरीय, ४९- अदृष्ट, ५०- प्रणिधान, ५१- स्मृति, ५२- संवित्ति, ५३- जगत्, ५४- तस्थुषः आदि।

यह तालिका इसी पुस्तक में दिये गये वेद, दर्शन और व्याकरण शास्त्र के उद्धरणों को समझने में पूरी सहायता देगी। इन तथा अन्य विशिष्ट पदों का प्रयोग इस पुस्तक में किया गया है।

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के कुछ स्थल देना भी मैं लाभदायक समझकर आगे प्रस्तुत करता हूँ।

१- यच्चेतनवत्त्वम् —तज्जीवत्वम्।

२- जीवस्तु खलु चेतनस्वभावः।

३- जीवश्चेतनस्वरूपत्वात्।

४- ज्ञानस्वरूपजीवस्य ।। (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन)

५- जीव का स्वरूप—जो चेतन, अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान गुणवाला है तथा नित्य है, वह जीव कहलाता है।
(आर्योद्देश्य रत्नमाला)

६- जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ, नित्य है, उसी को जीव मानता हूँ। (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, सत्यार्थ प्रकाश)

७- जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है। (सत्यार्थ० ७समु०)

८- (प्रश्न) जीव और ईश्वर का स्वरूप, गुण, कर्म, स्वभाव कैसा है?
(उत्तर) दोनों चेतन स्वरूप हैं। (सत्यार्थ प्रकाश ७ समु०)

९- जो वस्तु ज्ञानादि गुणों से रहित है उसको जड़ कहते हैं।
(आर्योद्देश्य रत्नमाला)

१०- जडे ज्ञानकार्याभावात्। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

११- ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्यकारणात्मकं जडम्।
(यजुर्वेद—ऋषि दयानन्द भाष्य अ० ४०)

१२- सर्वं शरीरादि जडम्। (यजुर्वेद अ० ४० ऋषि दयानन्द भाष्य)

१३- यदि जडं प्रकृत्यादिकारणं शरीरादि कार्यं वा न स्यात्।
(यजुर्वेद भाष्य अ० ४० ऋ० ८०)

१४- ज्ञानादिगुणयुक्तस्य चेतनस्य, अज्ञानयुक्तस्य जडस्य ।।
(यजुर्वेद भाष्य अ० ४०)

१५- यदेकमशनेन-भोजनकरणेन सह वर्तमानं जंगमं जीवचेतनादि-सहितं जगत्। द्वितीयमनशनम् अविद्यमानं भोजनं यस्मिंस्तत् पृथिव्यादि-कञ्च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद् वर्त्तते ।।
(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सृष्टि विषय)

१६- (क) तस्थुषः=स्थावरस्य। यजुर्वेद ऋषि भाष्य, ७-४२। १३-४८।

(ख) तस्थुषः तिष्ठन्तीति तान् सर्वान् स्थावरान् पदार्थान्, मनुष्यान् वा। तस्थुष इति मनुष्यनामसु पठितम्। निरुक्त २-३।

सत्यार्थप्रकाश के कुछ स्थल

१- जो सब चराचर जगत् को देखता चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता जैसे शरीर में नेत्र नासिका और वृक्ष के पत्र पुष्प फल मूल, पृथिवी जल के कृष्ण, रक्त, श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र, सूर्यादि चिह्न बनाता तथा सब

को देखता सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादिशास्त्र वा धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम लक्ष्मी है। (प्रथम समुल्लास)।

२-दो का होना वा दोनों से युक्त होना द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत, इस से जो रहित 'सजातीय' जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, 'विजातीय' जैसे मनुष्य से भिन्न जातिवाला वृक्ष, पाषाणादि 'स्वगत' अर्थात् शरीर में जैसे आंख नाक कान आदि अवयवों का भेद है वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है इससे परमात्मा का नाम 'अद्वैत' है। (प्रथम समुल्लास)

३- और पृथिव्यादि जड पदार्थ पश्वादि प्राणी और वृक्षादि भी हैं।
(सप्तम समुल्लास)

४- जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्षादि सदा बढते घटते रहते है—(सप्तम समुल्लास)

५- सर्वोत्तम मनुष्य शरीररूप वृक्ष के बीज को कुक्षेत्र में खोता है वह महामूर्ख है—(चतुर्थ समुल्लास)

६- जैसे पानी अन्न एकत्र हो सड़ने से कृमि उत्पन्न होते हैं और बीज पृथिवी जल के मिलने से घास वृक्षादि और पाषाण आदि उत्पन्न होते हैं—(अष्टम समुल्लास)

७- ईश्वर के उत्पन्न किये हुवे बीज अन्न जलादि के संयोग से घास वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं—(अष्टम समुल्लास)

८- यह बात सर्वथा असम्भव है क्योंकि पीड़ा दिये बिना किसी जीव का किंचित् भी निर्वाह नहीं हो सकता—(द्वादश समुल्लास)

९- बिना विद्यमान प्राणियों के सुख दुःख की प्राप्ति कन्द मूल पदार्थों में रहनेवाले जीवों को नहीं होती—(१२ वां समुल्लास)

१०- सर्वथा सब जीवों पर दया करना भी दुःख का कारण होता है।
(१२ वाँ समुल्लास)

११- भला जो वृक्ष जड़ पदार्थ है उसका क्या अपराध था कि उसको शाप दिया और वह सूख गया—(१३ वां समुल्लास)

१२- हाथ पग आदि जड़ होने से गवाही कभी नहीं दे सकते।
(१३वाँ समुल्लास)

अन्य ग्रन्थों के कुछ स्थल

१- ज्ञो अत एव ॥ वेदान्त दर्शन २-३-१८ (ज्ञान स्वरूप जीव)

२- स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥ न्याय ३-२-४० (ज्ञानस्वरूप जीव)

३- चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् । वेदान्त २-३-१६.
'स्थावरजंगमशरीरविषयौ जन्ममरणशब्दौ' ॥ शांकरभाष्य
'विषयाभावादियमचेतयमानता न चैतन्याभावात्' ॥ शांकरभाष्य

४- 'सर्वं च दंशमशकं स्थावरञ्च पृथग्विधम्' । मनु० १-४१।
'यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्' । मनु० १-४१।
'उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे' । मनु० १-४६.
'एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ मनु० १-५४.

५- जगच्च सचराचरम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति।
अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवयोनिषु शतेषु वै ॥ याज्ञवल्क्यस्मृतिः।
अदत्तादाननिरतः परदारोपसेवकः ।
हिंसकश्च विधानेन स्थावरेष्वभिजायते ॥ याज्ञ० स्मृति।

६- आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सृष्टिराविवेकात् । सांख्य-३-४७।
ऊर्ध्वं सत्वविशाला । सांख्य ३-४८
तमोविशाला मूलतः । सांख्य ३-४९
मध्ये रजोविशाला । सांख्य ३-५०

"ब्रह्मस्तम्ब" पर स्वामी शंकराचार्य का भाष्य यह है—
(वेदान्त भाष्य, 'धर्माधर्मयोः फले सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोप-
ज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धेः ।

७- तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥ वैशेषिक ४-२-५
सन्त्ययोनिजाः ॥ वैशेषिक ४-२-१०॥
वृक्षाभिसर्पणमदृष्टकारितम् ॥वै० ५-२-७।

मैंने उपर्युक्त स्थलों सूत्रों और श्लोकों की व्याख्या इसलिए नहीं है क्योंकि मूल पुस्तक में प्रकरण संगत इन का वर्णन है और पुस्तिका का कलेवर न बढ जावे यह भी ध्यान रखना आवश्यक था।

विशेष—यह ध्यान रखना चाहिये कि आर्यसमाज के शास्त्रार्थ

महारथी तार्किक शिरोमणि श्री पं० ओम्प्रकाश जी शास्त्री विद्याभास्कर द्वारा रचित पुस्तक "वृक्ष जड़ हैं" के उत्तर में यह पुस्तक लिखा गया है।

श्री शास्त्रार्थ महारथी जी के प्रत्येक मन्तव्य पर इस पुस्तक में विस्तृत रूप से विचार किया गया है।

"वृक्षों में जीव है वा नहीं" इस विषय पर आर्यसमाज में आरम्भ से ही दो मत चले आये हैं। अब भी स्वाध्यायप्रेमी शंका समाधान रूप में इसकी चर्चा करते ही रहते हैं।

अब तक के लिखे गये सब पुस्तकों से इस पुस्तक में अधिक प्रामाणिक सामग्री मिलती है।

विद्वान् लेखक ने बड़ी योग्यतापूर्वक इसकी रचना करके सभी स्वाध्यायप्रेमियों के लिए कल्याण सामग्री प्रस्तुत कर दी है।

मैंने कई बार लेखक महानुभाव की 'पाण्डु लिपि' को ध्यान से पढ़ा और मनन किया है।

यह मेरा सौभाग्य है कि ऐसे उच्च कोटि के पुस्तक की पूर्व-पीठिका लिखने का अवसर मुझे मिला। आशा है कि धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक समूहों में इस पुस्तक को आदरपूर्वक स्थान मिलेगा।

विनीत
जगदेवसिंह सिद्धान्ती
लोकसभा सदस्य

सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज
देहली
२४-४-१९६५

तमसो मा ज्योतिर्गमय

उपोद्घात

'वृक्ष जड़ हैं' नामक पुस्तक की समालोचना

प्रथम नाम के सम्बन्ध में ही वक्तव्य है। पुस्तक का नामकरण 'वृक्ष जड़ हैं' के स्थान पर 'वृक्ष निर्जीव हैं' यह होना चाहिये था, क्योंकि ग्रन्थकार का साध्य यही है।

वृक्षों की जड़ता तो सिद्ध वस्तु है, उसको तो वृक्षों में जीव स्वीकार करनेवाले मादृश जन भी मानते हैं। विप्रतिपत्ति तो केवल उसकी सजीवता और निर्जीवता के सम्बन्ध में है।

ग्रन्थकार की सारी शक्ति भी वृक्षों को निर्जीव सिद्ध करने में ही लगी है। उनकी जड़ता को भी उनके जीवरहित होने में हेतु माना है। फिर न जाने क्यों पुस्तक का नामकरण यथार्थ नहीं हुआ (वा किया गया ?)

प्रस्तावना में एक स्थान पर ग्रन्थकार माननीय पं० ओम्प्रकाश जी शास्त्री विद्याभास्कर लिखते हैं :—

"इस विषय पर विचार करते समय सब से अधिक परेशानी इस बात की रही कि इस विषय पर स्वामी दयानन्द जी की क्या सम्मति है ? यद्यपि मैंने इस ग्रन्थ में स्वामी जी महाराज के लेखों के आधार पर भी अपने पक्ष का पोषण किया है तथापि कुछ प्रश्न मेरे सामने अवश्य आये और मैं समझता हूँ वे बहुत जटिल प्रश्न हैं"।

इस का अभिप्राय यह निकलता है कि आप भी यह स्वीकार करते हैं कि कुछ स्थानों पर साक्षात् यह सिद्ध होता है कि स्वामी जी महाराज वृक्षों में जीव स्वीकार करते हैं।

यद्यपि आपने कुछ स्थानों को अपनी समझ से दायें बायें करने का यत्न किया है फिर भी आप की आत्मा स्वीकार करती है कि यह स्वामी जी के लेख के साथ न्याय नहीं है। यही जटिलता है।

शायद ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त की छाप लगाने के लिए ही पुस्तक का नाम 'वृक्ष जड़ हैं' यह किया गया है।

पुनश्च—आगे आप लिखते हैं :—

"किसी भी विषय पर विचार और निर्णय करने के पूर्व क्या महर्षि का मत अन्तिम समझा जावे ? या उस पर भी आर्य विद्वान् तर्क या विचार कर सकते हैं ? और क्या उसमें भी कोई परिवर्त्तन सम्भव है ?"।

इस विषय पर हमारा निवेदन है कि विचार वा तर्क वितर्क तो वेद पर भी किया जाता है जिस को हम ईश्वरीय ज्ञान होने से स्वतः प्रमाण मानते है, इसलिये ज्ञान वृद्धि और सिद्धान्त की पुष्टि के लिए वाद तो विद्वानों में सदा से होता रहा है और होता रहना चाहिये परन्तु अपने से पूर्ववर्ती विद्वानों के मत वा सिद्धान्त को अमान्य वा भ्रान्त ठहराने से पूर्व हमको कुछ सोचना भी आवश्यक है। अपनी योग्यता और उनकी योग्यता की भी जांच पड़ताल करना आवश्यक है।

जिन विद्वान् के मत को मिथ्या सिद्ध करना चाहते हैं वा उसको किसी वषय में भ्रान्त समझते हैं, क्या हम उससे अधिक वा उसके सम कक्ष योग्यता रखते हैं? यह भी देखना आवश्यक है। इसी प्रकार आप भी ऋषि दयानन्द के किसी मत वा विचार को भ्रान्त सिद्ध करते समय बुद्धि स्वाध्याय, मनन और तपस्या आदि में आप दयानन्द का साम्य कर सकेंगे ? इस बात की साक्षी क्या आपका आत्मा दे सकता है? क्या आप दयानन्द को ऋषि महर्षि हृदय से स्वीकार करते हैं? क्या मनुष्य ऋषित्व प्राप्त किए बिना किसी एक विषय का भी तत्त्वज्ञ (पूर्ण ज्ञाता) बन सकता है? क्या ईश्वर के साक्षात्कार बिना किसी भी विषय की पूर्ण ज्ञातृता आसकती है? क्या कोई तपस्या आदि साधनों से साक्षात्कृतधर्मा बन सकता है? यदि बन सकता है तो क्या दयानन्द नहीं था? काश! इन प्रश्नों के साथ ये आप यह भी समझते कि किसी विषय की तत्त्वज्ञता के लिये आत्मा की पवित्रता व जिज्ञासुता की भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी विद्वता की। तब ये पूर्वोक्त शब्द आप नहीं लिखते जो आप से लिखे गये।

मेरे विचार में दयानन्द वेदोदधि का अवगाहन करनेवाला निष्णात तैराक है, तथा मैं और आप 'अद्यापि ज्ञानोदन्वत उपर्युपरि प्लवसे' को चरितार्थ करते हैं।

आप दयानन्द को किसी विषय का (जिनका उन्होंने प्रतिपादन किया है उन सबका) तत्त्वज्ञ (पूर्ण ज्ञाता) नहीं मानते किन्तु अपने समान वा मादृश अन्य विद्वानों के समान विशेषज्ञ ही स्वीकार करते हैं।

किन्तु हम दयानन्द को जिस विषय का उन्होंने प्रतिपादन किया है उसका निर्भ्रान्त पूर्णज्ञाता मानते हैं।

दयानन्द के सम्मुख हम और आप ऐसे हैं जैसे वेद वेदाङ्गविद् उपाध्याय के सम्मुख प्राथमिक श्रेणी का विद्यार्थी होता है।

वृक्षों में जीव नहीं है

प्रथम दिन के संवाद की समीक्षा

पृष्ठ १७ पंक्ति २० तथा पृष्ठ १८ पं० १—५ में लिखा है—

"जिज्ञासु—वृक्ष घटते बढते हैं अतः उनमें जीव अवश्य है।

पण्डित—यद्यपि वृक्ष बढते तो हैं, घटते नहीं। टूट या सूख तो जाते हैं। घटते या सिकुड़ते नहीं। तथापि घटना या बढना यह जीव का धर्म नहीं।

जि०—फिर किसका है?

पं० प्राण का।"

समीक्षा—जिस प्रकार जहां उत्पत्ति है वहां नाश भी है, उसी प्रकार जहां वृद्धि है वहां ह्रास भी है। अवयवों के उपचय का नाम वृद्धि (बढना) है तथा उनके अपचय (क्षीणता) को घटना कहते हैं। ये दोनों कार्य (कर्म) प्राणियों के समान वृक्षादि में भी होते हैं। जल आदि के अभाव में खेती आदि सिकुड़ती कुम्हलाती क्षीण होती प्रत्यक्ष दीखती है। सूखने पर उनका भी वजन घटता है, ऐसा न मानना प्रत्यक्ष का अपलाप (खण्डन करना) है। शरीर के बढने घटने आदि को जीव का लिङ्ग (गमक=बोधक) वैशेषिककार कणाद जी और उसके भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य जी आदि प्रामाणिक (आप्त) पुरुष स्वीकार करते हैं। तद्यथा—

'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगति इन्द्रियान्तरविकारा सुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। वै० अ० ३-२-४।

"देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादिनिमित्तत्वात् (अधिष्ठाता अनुमीयते) गृहपतिरिव"। (प्रशस्तपादभाष्य आत्मसाधन प्रकरण।

अर्थात् शरीर की वृद्धि से तथा क्षति (घटती) की पूर्ति कर लेने से घाव आदि के भर जाने से, शरीर के अधिष्ठाता मालिक) का अनुमान होता है, गृहपति के समान। जैसे घर का मालिक अपने घर के टूट फूट की मरम्मत करता, करवाता रहता है। यही व्यवस्था शरीर में भी है, इसलिये इसका भी कोई स्वामी है।

यह नियम प्राणियों के देहों के समान वृक्षादि पर भी लागू होता है क्योंकि उनमें भी वृद्धि आदि हैं। इससे उनमें भी जीव का अनुमान होता है। शरीर के बढ़ने घटने को प्राण का धर्म मानना भी भ्रान्ति (भूल) है, क्योंकि बढना तथा घटना शरीर का धर्म है प्राण का नहीं; प्राण तो वृद्धि आदि के हेतु हैं।

पृष्ठ १८ पं० १५ तथा पृ० १९ प० १४, आप लिखते है—

पं०—यह (इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान) तो आत्मा के लिङ्ग अर्थात् परिचायक है, परिभाषा तो नहीं।

पं०—आत्मा की अति संक्षिप्त परिभाषा है—"ज्ञानाधिकरणमात्मा" अर्थात् ज्ञान का अधिकरण=आधार आत्मा होता है। इत्यादि"

समीक्षा—१. परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते' अर्थात् जिस प्रकार एक स्थान पर ही स्थित प्रदीप समस्त गृह को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार व्याकरण शास्त्र में जो सूत्र स्वनियत स्थान पर ठहरा हुवा हो जहां भी (आगे पीछे) आवश्यकता हुई वहीं पर उपस्थित होजावे उसे 'परिभाषा' सूत्र कहते हैं।

२. 'त्रयमेकत्र संयमः' इस योग सूत्र के व्यास भाष्य में लिखा है—तदेतत् त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति' अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनों को योग शास्त्र में 'संयम' शब्द से ग्रहण करना चाहिये। यह (संयम) इन तीनों की तांत्रिकी परिभाषा है। यहां परिभाषा शब्द कृत्रिम संज्ञा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकरण में माननीय पण्डित जी ने परिभाषा शब्द का प्रयोग किया है ऐसे स्थानों (अवसर) पर दार्शनिक विद्वान् 'लक्षण' शब्द का प्रयोग करते हैं।

'लक्ष्यते ज्ञायते अनेन इति लक्षणम्' अर्थात् जिस से किसी वस्तु (पदार्थ) का बोध हो उसे उस वस्तु का लक्षण कहते हैं। जैसे—"ज्ञानाधिकरणमात्मा" यहां ज्ञान गुण से आत्मा द्रव्य का बोध होता है इसलिए ज्ञान आत्मा का लक्षण है। यही अर्थ लिङ्ग शब्द का भी है। यथा—"लिग्यते ज्ञायते अनेन इति लिङ्गम्" गत्यर्थक 'लिगि' धातु से करण कारक में घञ् प्रत्यय से लिङ्ग शब्द बना है।

लक्षण शब्द 'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः' धातु से करण कारक में 'ल्युट्' प्रत्यय से बना है। अर्थ दोनों का समान है। इसी अर्थ में आपने परिभाषा शब्द का प्रयोग किया है। आप के कथन से अज्ञ (संस्कृत व्याकरण से अनभिज्ञ) जन भ्रम में पड़ सकते है पण्डित जन नहीं। 'ज्ञानाधिकरणमात्मा" यह आत्मा का लक्षण किन्हीं नैयायिकों का है। वे नैयायिक वृक्षों में जीव को मानते हैं। उन का यह लक्षण सब आत्माओं के लिए है चाहे वह आत्मा परमात्मा हो, मुक्तात्मा हो, मनुष्य हो, पशु आदि का हो, वा स्थावर जीव हो। लक्षण करने का प्रयोजन होता है—'सजातीयविजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः' अर्थात् पदार्थ को उस के समानजातीय और विजातीय

पदार्थ से अलग कर देना लक्षण का प्रयोजन (फल) है। जैसे इसी लक्षण में ज्ञान गुण आत्मा का लक्षण बताया गया है क्योंकि वह आत्मा को सजातीय द्रव्यों पृथिवी आदि से विजातीयपदार्थ गुण कर्म आदि से अलग कर देता है। क्योंकि पृथिवी आदि द्रव्यों तथा गुण कर्म आदि पदार्थों में ज्ञान गुण का अभाव है। लक्षण के तीन दोष माने गये हैं अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव।

लक्षण का लक्ष्यमात्र में रहना; अर्थात् एक अंश (भाग) में रहना, सर्वांश में न रहना अर्थात् कुछ भाग में न रहना; 'अव्याप्ति' दोष कहा जाता है। लक्षण का लक्ष्य से इतर में भी रहना 'अतिव्याप्ति' दोष है। तथा लक्षण का लक्ष्य के किसी भी भाग में न रहना 'असम्भव' नामक दोष कहलाता है।

मेरी समझ से आप "ज्ञानाधिकरणमात्मा" से जीवात्मा का ही लक्षण कर रहे हैं; आपको यहां परमात्मा अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि यहां जीवात्मा का ही प्रकरण चल रहा है; परमात्मा का नहीं। आपके मन्तव्य-अनुसार इस लक्षण में दो दोष प्राप्त होते हैं। प्रथम अव्याप्ति दोष इस प्रकार प्राप्त होगा— जैसे आप स्थावर जीव को ज्ञानाधिकरण नहीं मानते उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त जीवों प्रलयकाल में सभी सांसारिक जीवों तथा अण्डा दशा में वर्त्तमान जीवों के ज्ञानरहित होने से यह लक्षण केवल जागृत अवस्थावाले मनुष्यादि प्राणियों तथा मुक्तात्माओं में ही चरितार्थ होगा, इतर में नहीं।

अतिव्याप्ति दोष इसलिये है कि यह लक्षण जीवात्माओं से भिन्न—परमात्मा में भी घटता है। आप को जीव का ऐसा लक्षण करना चाहिये जो सभी जीवात्माओं में तो रहे परन्तु ईश्वर आदि में न रहे। जिन नैयायिकों ने यह लक्षण किया है वे ज्ञान का आत्मा के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध मानते हैं, क्योंकि ज्ञान और आत्मा का समवाय (नित्य) सम्बन्ध है संयोग सम्बन्ध नहीं।

राजर्षि मनु आदि के अनुसार इच्छा द्वेष आदि आत्मा के सभी गुण उसमें रहते हैं परन्तु कारण विशेष से उनकी उपलब्धि अनुपलब्धि होती रहती है इसलिए ये सभी इच्छादि जीवात्मा के लक्षण हैं। जैसे 'गन्धवती पृथिवी' अर्थात् गन्ध गुण पृथिवी का लक्षण है क्योंकि वह उसको सजातीय जल आदि द्रव्यों से तथा विजातीय गुण कर्म आदि पदार्थों से पृथक् कर देता है, क्योंकि गन्धगुण पृथिवी से इतर में नही रहता, और पृथिवी मात्र में रहता है। जिन पार्थिव वस्तुओं में गन्ध का भाग नहीं होता उनमें भी

गन्ध का अनुमान कर लिया जाता है। अनुत्कट गन्ध ही अनुमान में कारण हो जाता है। यथा सुषुप्तावस्थावाले जीवों व प्रलयकालिक सांसारिक जीवों में नैमित्तिक ज्ञान के न रहने पर भी सामान्य ज्ञान का अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार स्थावर जीवों में भी सामान्य ज्ञान का अनुमान कर लिया जाता है। क्योंकि जीव चेतन स्वरूप है।

पृष्ठ १६ पं० १६ में आप लिखते हैं—

"वह कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थः होता है।"

समीक्षा—'चेतनो हि कर्त्ता भवति नाचेतनः' अर्थात् चेतन ही कर्त्ता होता है अचेतन कर्त्ता नहीं होता, यह नियम तो ठीक है, परन्तु जो ज्ञानवान् हैं वे सभी सीधा करने मे, विपरीत करने में अथवा न करने में समर्थ ही होते हैं यह नियम नहीं है। क्योंकि करने में वा विपरीत करने में ज्ञान के साथ २ राग द्वेषादि गुणों व अन्य बाह्य साधनों की भी आवश्यकता है। उन सब के अभाव में अकेले ज्ञानमात्र से कुछ बनाया वा बिगाड़ा नहीं जा सकता। न करने में केवल इच्छा गुण की आवश्यकता है।

इसलिए जो ज्ञान का अधिकरण होता है वह—'कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थः' होता ही है यह बात सर्वांश में सत्य नहीं है। इससे आगे जो दृष्टान्त आपने चींटी का दिया है वह कहीं कहीं जड़ों में भी घटता है। बहुत से वृक्षादि की कोमल जड़ें कंकरीली पथरीली भूमि को भी भेदकर जाती हुई देखी गई हैं? चने का अंकुर बड़े बड़े ढेलों के नीचे दबा हुआ भी इधर उधर से चक्कर काट कर यथा तथा ऊपर आ ही जाता है अवरुद्ध नहीं होता। किन्तु गेहूँ का अंकुर किंचित् अवरोध से वहीं रुक जाता है। यह बात सभी किसान जानते हैं।

इसी प्रकार बहुत से भीरू प्राणी किंचित् विघ्न आने पर ही कार्य से विरत होकर हाथ पर हाथ धरे बैठे देखे गये हैं।

पृष्ठ २० पं० २२-२६ में आप लिखते हैं—

जिज्ञासु—अब कृपया प्राण तत्त्व को भी स्पष्ट कर दीजिये।

पं०—प्राण "अन्तःसंचारी वायुः प्राणः" के अनुसार वह तत्त्व है जो निर्जीव और सजीव दोनों प्रकार के प्राणियों में अन्दर की उन नियमित क्रियाओं का साधन है जो जीव के सामर्थ्य से बाहर होती हैं।

समीक्षा—किस का अन्तःसंचारी? क्या नासिकाऽन्तःसंचारी! शरीरान्तःसंचारी? अथवा ब्रह्माण्डान्तः संचारी? यह बात आपको स्पष्ट करनी चाहिये थी। अन्यथा क्या भस्त्रान्तःसंचारी वायु को भी प्राण कह सकते हैं?

प्राणी किसको कहते हैं? अप्राणी किसकी संज्ञा है? इनका क्या लक्षण है? सजीव निर्जीव की क्या पहचान है? किस शास्त्रकार ने अथवा ऋषि मुनि ने लिखा है कि—प्राणी सजीव निर्जीव भेद से दो प्रकार के होते हैं।

तथाकथित प्राणी अप्राणियों में नियमित क्रियायें कौनसी हैं? तथा अनियमित क्रियाओं से आप का क्या अभिप्राय है? क्या नियमित क्रियाओं का ही साधन प्राण है? अनियमित क्रियाओं का साधन नहीं है? क्या जो नियमित वा अनियमित क्रियायें जीव के सामर्थ्य के अन्दर हैं वा हो सकती हैं उनका साधन प्राण नहीं है? यदि है तो पूर्वोक्त कथन अपूर्ण हुआ। प्राण भी तो जीव के साधनों में एक साधन है।

प्राण के विषय में आप का पूर्वोक्त कथन किस शास्त्र के अनुसार है? अथवा स्वमनीषया कल्पित है? स्पष्ट करना चाहिये।

आइये मित्रभाव से इन सब पर विचार करें। प्रथम प्राणी अप्राणी शब्दों पर विचार करते हैं।

प्राणी, चेतन, चर ये समानार्थक शब्द हैं तथा अप्राणी, जड, अचर ये भी समानार्थक शब्द है। प्राणी, अप्राणी, दोनों जगत् शब्द से ग्राह्य हैं। प्राणी के दो भेद हैं। चेतन और जङ्गम। चेतन मनुष्यादि, जंगम=पशु पक्षी आदि तिर्यक् योनियां।

अप्राणी के भी दो भेद हैं एक स्थावर वृक्षादि, द्वितीय पृथिवी से लेकर परमाणु (प्रकृति) पर्यन्त जड पदार्थ।

इस विषय में प्रमाण के लिए 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इस की सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास प्रोक्त व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजु० १३·४६) जो [जगतः] जगत् नाम प्राणी चेतन और जङ्गम अर्थात् जो चलते फिरते हैं। (तस्थुषः) अप्राणी अर्थात् स्थावर, जड अर्थात् पृथिवी आदि हैं……।"

यहां प्रथम प्राणियों के दो भेद चेतन और जङ्गम से किये गये हैं। चेतन जाति से मनुष्य आदि ग्राह्य हैं, जंगम जाति से पशु आदि तिर्यक्

योनियां। यहां यह समझना चाहिये कि चेतन (त्व) जाति व्यापक जाति है और जंगम (त्व) जाति उसकी व्याप्य जाति है, जैसे मनुष्य (त्व) व्यापक जाति है और ब्राह्मणत्वादि उसकी व्याप्य जातियां हैं।

(प्रश्न) जङ्गम की व्याख्या महर्षि दयानन्द जी महाराज ने तो केवल 'जो चलते फिरते हैं' इतनी ही की है तथा कोई उदाहरण भी नहीं दिया, फिर मनुष्य क्यों नहीं जंगम से ग्राह्य हो सकते? वे भी तो चलते फिरते हैं।

(उत्तर) किसी शब्द के विशिष्ट अर्थ की प्रतीति के लिये उसकी व्याकरण निरुक्त आदि प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। 'जंगम' शब्द गत्यर्थक 'गम्' धातु से 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' (अष्टाध्यायी ३-१) इस सूत्र से यङ् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। 'नित्यं कुटिलं गच्छतीति जंगम्यते' 'जंगम्यते इति जंगमः' अर्थात् जो प्राणी सदा निसर्गरूप से कुटिल - वक्र टेढे होकर चलते हैं वे 'जङ्गम' नाम से ग्राह्य हैं। मनुष्य सरल रूप से (ऊपर शिर करके) चलते हैं इसलिए ये जंगम नहीं हैं।

पशु आदि प्राणियों की शरीर रचना ही तिर्यक्=टेढा चलने की है इसलिए वे ही जंगम पद वाच्य हैं।

'तस्थुषः' पद की व्याख्या 'जगतः' पद की नकल के अनुसार तो इस प्रकार होनी चाहिये। 'तस्थुषः' अप्राणी=जड अर्थात् स्थावर और पृथिवी आदि हैं। परन्तु वर्तमान व्याख्या में अर्थात् पद दो बार पठित है, प्रथम अप्राणी पद के बाद पुनः जड शब्द के पश्चात् 'अर्थात्' पद पूर्वपद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होता है (किया जाता है) यहां पर यह समझना चाहिए कि 'अप्राणी' पद का स्पष्टीकरण (खुलासा) है स्थावर और जड पद, तथा जड का स्पष्टीकरण है पृथिवी आदि।

(प्रश्न) क्या स्थावर जड नहीं हैं जो उन का जड से पृथक् रूप से निर्देश किया?

(उत्तर) स्थावर जड ही हैं परन्तु उनका पृथिवी आदि से वैधर्म्य दिखाने के लिए पृथक् निर्देश किया है वा होता है)। जैसे पशु आदि प्राणी चेतन हैं फिर भी उनका मनुष्यों से वैधर्म्य बोधनार्थ 'जंगम' नाम से पृथक् भी निर्देश किया गया है।

(प्रश्न) इनका परस्पर क्या वैधर्म्य है?

(उत्तर) स्थावरों में जीवन है पृथिवी आदि में जीवन नहीं है। अतः पृथिवी आदि शाश्वत जड हैं, स्थावरों में कालिक जडता है।

(प्रश्न) इन सब बातों का ज्ञान कैसे होता है?

(उत्तर) व्याकरण व निरुक्त आदि शास्त्रों की प्रक्रिया द्वारा शब्दार्थ सम्बन्ध का ज्ञान भली प्रकार हो सकता है।

वैयाकरणों ने पदों के दो रूप, कच्चा रूप और पक्का रूप तथा लौकिक, अलौकिक भेद से दो विग्रह स्वीकार किये हैं। ये सब शब्दार्थ सम्बन्ध ज्ञान में सहायक होते हैं।

वर्त्तमान व्याख्येय 'तस्थुषः' पद 'तस्थिवस्' शब्द का षष्ठी विभक्ति एक वचन का रूप है।

'तस्थिवस्' शब्द स्था धातु जो गतिनिवृत्ति अर्थ में मुख्य-रूप से प्रयुक्त है उससे सामान्य भूतकाल में 'लिट्' उसको 'क्वसु' आदेश करके उसका कच्चा रूप 'स्था-स्था-वस्' हुआ पश्चात् 'तस्थिवस्' रूप बना है। इस प्रक्रिया से 'तस्थिवस्' में गति निवृत्त दो पदार्थ दीखते हैं। प्रथम गति निवृत्त (ज्ञान से प्रथग्भूत) पदार्थ स्थावर है। 'स्थावर' शब्द भी स्था धातु से वर्तमानकाल में शील आदि अर्थों में 'वरच्' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। शील का अर्थ अभ्यास भी होता है। तदनुसार 'स्थावर' का अर्थ होगा—'जिसको गतिनिवृत्ति अर्थात् ज्ञान व विषयप्राप्ति की निवृत्ति का अभ्यास कराया जारहा है।

द्वितीय 'स्था' के पश्चात् 'वस्' है जिसका अभिप्राय यह निकलता है कि—वह गति निवृत्त (गतिरहित) पदार्थ वैसा ही 'वसति' सदा रहता है. इसलिये वह शाश्वत (नित्य) जड़ है। वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि शब्दों का विशेषकर वैदिक शब्दों का अर्थ (पदार्थ) के साथ नित्य सम्बन्ध है। ऐसी अवस्था में शब्द के अन्दर ही प्रतिपाद्य वस्तु (पदार्थ) को बोध कराने की शक्ति निहित होती है। किन्तु उसके ज्ञान के लिये साधना (तप) की अपेक्षा है।

अब व्याख्यातव्य हैं प्राणी और अप्राणी शब्द।

प्राण शब्द से 'मतुप्' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय करने पर प्राणी शब्द बनता है। मत्वर्थीय प्रत्यय बाहुल्य आदि सात अर्थों में होते हैं। उन अर्थों में 'नित्य योग' (नित्यसम्बन्ध) भी है। उसी अर्थ में यहां प्राण शब्द से 'इनि' प्रत्यय हुआ है।

प्राणी वह है जिस का प्राण के साथ नित्यसम्बन्ध है। अब ज्ञातव्य है कि प्राणी शब्द से 'प्राण' से क्या अर्थ अभिप्रेत है?

प्राण शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे परमात्मा अन्तःकरण अर्थात् मन, ज्ञानेन्द्रियां, प्राणापान आदि पांच वा दश शरीरस्थवायुविशेष, बल सामर्थ्य, पुरुषार्थ, पराक्रम जीवन आदि।

यहां (प्राणी शब्द में) प्राण का अन्तःकरण अर्थ अभिप्रेत है।

इसलिए प्राण का अर्थ हुआ—जिसके साथ मानसिक कर्मों का नित सम्बन्ध है वह 'प्राणी' है।

न प्राणी=अप्राणी। नञ् प्रतिषेधवाचक अव्यय है। प्रतिषेध प्रकार का होता है, पर्युदास और प्रसज्य अर्थात् सर्वथा अभाव। पर्युदास का अर्थ है 'अतत् तत्सदृश' अर्थात् वह तो हो नहीं परन्तु उस के समान हो। अतः अप्राणी के दो अर्थ होंगे—एक जो प्राणी (प्राणवाला) सर्वथा नहीं है। प्रथम अर्थ में अप्राणी से स्थावर वृक्षादि वाच्य होंगे। द्वितीय अर्थ में पृथिवी आदि जड वाच्य होंगे, क्योंकि उनमें अन्तःकरण का सर्वथा अभाव है, क्योंकि वे निर्जीव होते हैं।

स्थावर वृक्षादि में जीव तो है परन्तु उन में नैमित्तिक ज्ञान साधनों के अभाव से मानसिक कर्मों का अभाव है। अर्थात् वे स्थावर जीव अत्यन्त मूर्छित, महान्धकार महानशा में वर्त्तमान हैं इसलिए ज्ञानादि गुणों से रहित होने से जड कहाते हैं।

भाव यह है कि पृथिवी आदि शाश्वत=नित्य जड होने से अप्राणी हैं और स्थावर कालिक जड होने से अप्राणी कहे जाते हैं। अतः मुख्यता से जड पृथिवी आदि ही हैं।

(प्रश्न) यह व्याख्या सन्देहजनक है, प्रथम व्याख्या (जगत् शब्द नकलरूप) शीघ्र समझ में आजाती है अतः वही समुचित है।

(उत्तर) सन्देहास्पद स्थलों के लिये महाभाष्यकार पतञ्जलि का यह वचन सदा स्मरण रखना चाहिए—"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" अर्थात् सन्देहमात्र से कोई बात (वचन) अप्रमाण (अमान्य) नहीं समझनी चाहिए किन्तु व्याख्या आदि से उसका विशेष अर्थ प्राप्त करना चाहिए।

यहां पर भी 'तस्थिवस्' का यथार्थ अभिप्राय जानने के लिए वर्त्तमान पाठ ही समुचित है। प्रथम पाठ में उसका भावार्थ ही बोधित होता है वास्तविक हृद्य अज्ञात ही रहता है। अब विचारणीय आपकी यह बात है कि—'सजीव निर्जीव भेद से प्राणी दो प्रकार के होते हैं'।

पूर्वोक्त कथनानुसार समझ लेना चाहिये कि प्राणी तो सजीव ही होते हैं, निर्जीव की प्राणी संज्ञा होती ही नहीं। आप को अपने मत (विचार) की पुष्टि के लिए किसी शास्त्र वा ऋषि मुनि प्रणीत ग्रन्थ का वचन नहीं मिलेगा।

'प्राणिनां चैव हिंसनम्' 'न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः' इत्यादि वचनों से चेतन को ही प्राणी कहते हैं। जड को प्राणी कहीं नहीं कहा गया।

स्थावरों में जीव न मानने वाले तर्क को बड़ा महत्त्व देते हैं। आपकी इस पुस्तक में भी तर्कों की बहुलता है। आइये जरा तर्क के विषय में विचार करलें उस में कितनी क्या शक्ति है।

न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र के वात्स्यायन भाष्य में वात्स्यायनमुनि लिखते हैं—'तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरम्, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते'। अर्थात् चारों प्रमाणों में तर्क का समावेश नहीं है तथा पंचम प्रमाण भी नहीं है, किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक (अनुग्रह करनेवाला) अर्थात् प्रमाणों के लिए मार्ग प्रशस्त (साफ) करनेवाला प्रमाणों का सहायक होने से तत्त्वज्ञान में उपयोगी है इसलिए न्याय शास्त्र में इसका प्रतिपादन किया है।

तर्क अनुमान प्रमाण का प्रवर्त्तक है। जिस तर्क से अनुमानादि प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती वह तर्काभास होने से कोई महत्त्व नही रखता। किञ्च वादी द्वारा प्रमाण में प्रतिवादी द्वारा डाली गई बाधा को तर्क द्वारा निरस्त किया जाता है। किसी तत्त्व का साधक तो प्रमाण ही होता है तर्क नहीं, अतः तर्क का स्थान (गणना) प्रमाण में नहीं, परन्तु बाधाओं को निरस्त करने के कारण प्रमाण का अनुग्राहक होता है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि तर्क के स्थान पर तर्काभास का प्रयोग अयुक्त होता है। तर्काभास से प्रमाण की हानि नहीं, परन्तु वह प्रमाण का सहायक नहीं हो सकता। तर्क के पश्चात् तत्त्व ज्ञानार्थ प्रमाण की प्रवृत्ति करनी ही चाहिए। प्रमाण के लिए तर्क की उपयोगिता निम्न दृष्टान्त से समझी जा सकती है।

जिस प्रकार खेत में बीज बोने के लिए प्रथम किसान 'सूड काटना' किया करते हैं अर्थात् खेत के अन्दर विद्यमान दृश्य अदृश्य विघ्न रूप झाड झंखाड मूल आदि को दूर करते हैं, उसके बाद हल चलाते हैं; पुनः बीज बोते हैं। 'सूड काटना' हल के मार्ग को प्रशस्त करता है। 'सूड' क्रिया के पश्चात् हल चलाकर बीज न बोना किसान के लिये कोई लाभप्रद बात नहीं। इसलिए तर्क पूर्वक अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति तत्त्वज्ञानार्थ करनी ही चाहिए।

अब प्रकृत विषय पर आते हैं। आपने प्राण और चेतन के सम्बन्ध में तर्क किया किन्तु तर्क प्रमाण कुछ नहीं दिया।

मैं अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ आप उसका खण्डन करें—

'वृक्षादयः सजीवाः, प्राणादिमत्त्वात्, मनुष्यादिप्राणिवत्। यः प्राणादिमान् भवति स सजीवो भवति यथा मनुष्यादयः, तथा च वृक्षादयः, तस्मात्तथा, सजीवा इत्यर्थः।'

अर्थ—वृक्षादि जीवसहित हैं, प्राणादि होने से, मनुष्य आदि प्राणियों के समान, जो प्राणादि वाला होता है वह सजीव होता है जैसे मनुष्य आदि प्राणी, वृक्षादि भी मनुष्यादि के समान प्राणादिवाले हैं इसलिये ये सजीव हैं।

यत्र यत्र प्राणः (प्राणादयः) तत्र तत्र जीवः, इति भावव्याप्तिः (अन्वय-व्याप्तिः) यत्र यत्र जीवाभावः तत्र तत्र प्राणाभावः (प्राणाद्यभावः) इति अभाव व्याप्तिः (व्यतिरेकव्याप्तिः)। यथा सति धूमे वह्निः; वह्न्यभावे धूमाभावः। व्याप्ति का बल (सामर्थ्य) लिङ्ग पर ही होता है। यहां प्राण लिङ्ग (व्याप्य) और जीव लिङ्गी (व्यापक) है।

इसमें आगम प्रमाण भी हैं। यथा—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि॥ वै० ३-२-४॥

इसका महर्षि दयानन्द कृत तृतीय समुल्लासस्थ अर्थ नीचे दिया जाता है—

"(प्राण) भीतर से वायु निकालना (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना (निमेष) आंख को नीचे ढापना (उन्मेष) आंख को ऊपर उठाना (जीवन) प्राण का धारण करना (मनः) मनन, विचार, ज्ञान, (गति) यथेष्ट गमन करना (इन्द्रिय) इन्द्रियों को विषय में चलाना उनसे विषयों का ग्रहण करना (अन्तर्विकार) क्षुधा, ज्वर, पीड़ा आदि विकारों का होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सब आत्मा के लिङ्ग अर्थात् कर्म और गुण है। इसी प्रकार इस सूत्र का अर्थ सप्तम समुल्लास में किया है। वहां अर्थ करने के बाद यह विशेष लिखा है—" इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी क्योंकि वह स्थूल नहीं है। जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं और जब छोड़कर चला जाता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हो और न होने से न होवे गुण उसी के होते हैं।"

(सत्यार्थ० ७म समुल्लास)

इस प्रकार वैशेषिककार और स्वामी दयानन्द जी महाराज भी प्राणादि को जीव का लिङ्ग मानते हैं।

आप ने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया अतः उस पर कैसे विचार किया जावे। जब प्रमाण उपस्थित करेंगे तब विचार होना सम्भव है।

आगे आप मनुष्य आदि प्राणियों में भी श्वास प्रश्वास आदि कर्मों के होने में परमात्मा को ही निमित्त कारण मानते हैं, जीवात्मा को इनका निमित्त कारण नहीं मानते। इस विषय में अनुमान आगम आदि कोई प्रमाण नहीं दिया, तथा पूर्वोक्त अनुमान और आगम प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण अमान्य है।

आप कह सकते हैं मैंने प्रत्यक्ष प्रमाण दिया है किन्तु मेरा निवेदन है कि इस में प्रत्यक्ष का विरोध है। श्वास प्रश्वास आदि में मनुष्यों की इच्छा व द्वेष-जन्य प्रयत्न कारण है।

आप का यह कथन भी युक्त नहीं कि ये श्वास प्रश्वास आदि क्रियायें ईश्वर के आधीन हैं, जीव के आधीन नहीं हैं। क्योंकि ये सब मनुष्य के आधीन हो सकते हैं, होने चाहियें, और यथासम्भव प्राणियों के आधीन हैं भी। इस बात को निम्नदृष्टान्त से समझिये।

एक सम्पन्न गृहस्थ अपने लिए सब प्रकार से सुविधापूर्ण भवन चाहता है उस को भवन निर्माण का ज्ञान नहीं है। वह एक चतुर कारीगर को बुलाकर अपनी बहुमूल्य पुञ्जी सौंप देता है और कहता है कि आप मेरे लिए मेरी आवश्यकताओं को देखते हुवे सुन्दर भवन बना दीजिये। वह कारीगर जो उसके समान पुंजीवाले तथा उससे बड़े व छोटे (अधिक व न्यून पुंजीवाले) गृहस्थों के भवन निर्माण के कारण सब प्रकार से अपने कार्य में चतुर है, वह गृहस्थ की पुंजी के अनुसार उसके लिए भवन बना देता है और भवन निर्माण करके उसके लिए सब भागों के उपयोग का तरीका बताकर उस भवन की रक्षा के लिए भी कुछ भृत्य पुंजी के अनुसार ही नियुक्त करके तथा यथायोग्य कार्य लेना भी बतलाकर भवन को उसके स्वामी को समर्पित कर देता है। अब भवन का स्वामी उस में निवास करता हुआ अपना कारोबार (कार्य-कलाप) करने में स्वतन्त्र है। भवन की सुरक्षा करना भी उसी का कार्य है। वहां रहता हुआ उसका स्वामी भवन का सदुप-योग तथा दुरुपयोग दोनों ही कर सकता है। सदुपयोग करता हुआ अधिक धन उपार्जित कर सकता है। दुरुपयोग करके अर्जित पुंजी को भी वृथा विनष्ट कर सकता है। क्योंकि वह वैसा करने में स्वतन्त्र है, इसलिए कर्त्ता कहाता है।

इसी प्रकार परमात्मा भी जीवों की कर्म रूपी पुञ्जी के अनुसार उनके शरीरों का निर्माण करके उनको उसके उपयोग का तथा उसकी रक्षा का भी

ज्ञान देकर साक्षी रूप से उनके हृदय (आत्मा) में सदा विराजमान रहता है। अपने इस कार्य का जीवों से कोई प्रतिफल न लेता हुआ अलिप्त भाव से सदा सब कार्य करता रहता है। इस प्रकार ईश्वर जीवों के शरीर का निर्मातामात्र है, उससे अपने लाभ के लिये कोई कार्य नहीं करता, इसलिये कर्त्ता नहीं है। कर्त्ता तो जीव ही है क्योंकि वह अपने शरीर से अपनी इच्छानुसार काम लेता है इसलिए कर्मजन्य फल का भोक्ता भी वही है। जहां कहीं ईश्वर को कर्त्ता कहा गया है वह पूर्वोक्त निर्माता आदि अर्थों में ही समझना चाहिये। क्योंकि 'यत्र-यत्र फलेच्छया कर्तृत्वम् तत्र-तत्र भोक्तृत्वम्। यत्र भोक्तृत्वाभावः तत्र कर्तृत्वाभावः'। जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। जो भोक्ता नहीं वह कर्त्ता भी नहीं। क्योंकि जीव कर्मों का कर्त्ता है अतः कर्मफल भोक्ता भी है ईश्वर कर्मफल भोक्ता नहीं अतः कर्त्ता भी नहीं। यदि आप जीव को किन्हीं क्रियाओं का कर्त्ता नहीं मानेंगे तो उन क्रियाओं के फल का भोक्ता भी नहीं मान सकते। यदि ईश्वर को श्वास प्रश्वास आदि क्रियाओं का कर्त्ता मानते हैं तो उन क्रियाओं का फल भोक्ता भी वही मानना पड़ेगा। इस में प्रमाण—

(प्रश्न) जीव स्वतन्त्र है वा परतन्त्र ?

(उत्तर) अपने कर्त्तव्य कर्म करने में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है। जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्त्ता है।

(प्रश्न) स्वतन्त्र किसे कहते हैं ?

(उत्तर) जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय अन्तःकरणादि हों। जो स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे भृत्य स्वामी [की] और सेना सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मार के अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और अधीनता से काम सिद्ध हों तो जीव को पाप व पुण्य न लगे। उस फल का भागी प्रेरक परमेश्वर होवे। नरक स्वर्ग अर्थात् सुख दुःख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे"॥ ·········

"जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुवे हैं परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई जीव मन, वचन, कर्म से पाप पुण्य करता है वह भोक्ता है, ईश्वर नहीं" (सत्यार्थ० सप्तम समुल्लास)।

पृष्ठ २१ तथा २२ पर आप लिखते हैं—

'पण्डित···—······प्राण का कार्य जीव के निमित्त बिना भी एक नियम से चल जाता है।

जिज्ञासु—यह बात तो आप ने नई कही, भला चेतन जीव के निमित्त बिना जड प्राण का कार्य नियमित कैसे चल सकता है ?

पण्डित—भाई ! जीव ही तो इकला चेतन नहीं है। जीव के अतिरिक्त परमात्मा भी तो चेतन द्रव्य है। जहां जीव का निमित नहीं होता, वहां इस परमात्मा के निमित्त से नियमित कार्य चलता रहता है।

जिज्ञासु—इसे और स्पष्ट कीजिए।

पण्डित—जैसे सजीव प्राणियों के शरीरों में रक्त संचार (circulation of blood) श्वास प्रश्वास की क्रिया, शरीर का घटना बढना, रोगों का आना जाना, जीव की बिना इच्छा और प्रयत्न के बराबर चलते रहते हैं। यह तो स्पष्ट है कि उपर्युक्त क्रियायें यद्यपि जीवात्मा के ज्ञान इच्छा तथा प्रयत्न के बाहिर हैं परन्तु फिर भी ये सभी क्रियायें बिना किसी सिद्धान्त या नियम के नहीं होती हैं।

जिज्ञासु—तो फिर उन क्रियाओं का कर्त्ता आप शायद परमात्मा को मानते हैं ?

पण्डित—निःसन्देह ! ············।

समीक्षा—यदि शरीर की उन्नति अवनति में हमारी इच्छा और प्रयत्न बिल्कुल कारण नहीं, ईश्वर की इच्छा (ईक्षण) व क्रियाशक्ति ही निमित्त है तो नियमित भोजन, छादन, औषध, पथ्य सेवन, नियमपालन आदि सब व्यर्थ हैं। आत्म-हत्या का कर्त्ता भी ईश्वर हुआ, वही पापी होना चाहिये मनुष्य नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है। शरीर में जो क्रियायें अनायास होती प्रतीत होती हैं उन में भी जीवों का अदृष्ट (धर्म अधर्म) द्वारा चालित जीवन योनि प्रयत्न विशेष ही कारण माना गया है। इन क्रियाओं का कारण (साक्षात्कारण) ईश्वर नहीं है। श्वास प्रश्वास रुधिराभिसरण आदि आन्तर क्रियाओं का साक्षात्कारण जीवों का प्रयत्न ही है। फलभोग के लिये जीवों के अदृष्ट ईश्वर से प्रेरित हैं किन्तु इस कारण से ईश्वर को इन क्रियाओं का निमित्त कारण नहीं कहा जा सकता। जैसे घट कार्य के प्रति कुलाल के पिता को निमित्त नहीं माना जाता।

इसमें प्रमाण—"प्राणाख्ये वायौ तु कर्म आत्मवायुसंयोगाद् इच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षाज्जाग्रत इच्छानुविधानदर्शनात्, सुषुप्तस्य तु जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षात्।" (प्रशस्तपादभाष्ये कर्मपदार्थनिरूपणे)

अर्थ—प्राण नामक वायु विशेष में तो क्रिया, इच्छा व द्वेषपूर्वक जो प्रयत्न तदपेक्ष जो आत्म-प्राण संयोग, उससे होती है। क्योंकि प्रबुद्ध मनुष्यादि की

इच्छानुरूप हो प्राणादि की क्रिया देखी जाती है। किन्तु शयनकाल में प्रयत्न, इच्छाद्वेषपूर्वक नहीं होता, तब प्रयत्न जीवनपूर्वक (जीवनकारणक) होता है।

भाव यह है कि जाग्रतकाल में तथा शयनकाल में प्राण की क्रिया का कारण 'आत्मप्राणसंयोग' है और उसका कारण प्रयत्न है। परन्तु भेद इतना है कि जाग्रतकाल में तो प्रयत्न के कारण इच्छा द्वेष होते हैं और शयन-काल में प्रयत्न का कारण जीवन होता है। ऐसा भाष्यकार का आशय है।

दूसरा प्रमाण— 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥' (सांख्य दर्शन २-३१)

इस सूत्र का भाव यह है—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पाँचों जो वायु रूप हैं, सब करणों को साधारण वृत्ति (व्यापार=कार्य) हैं।

करण त्रयोदश हैं। यथा—पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, अहंकार बुद्धि। इन सब के अस्तित्व (विद्यमानता) में प्राणादि अपना कार्य करते हैं। अतः प्राणादि इनका (त्रयोदश करणों का) साधारण (साझला) कार्य है। यदि इनमें से एक, दो वा अधिक का भी अस्तित्व न रहे तो भी कुछ करणों के अस्तित्व से भी प्राणादि का व्यापार चलता रहता है।

आपका पूर्वोक्त कथन (जिज्ञासु के समाधान रूप में) प्रमाणशून्य होने से अमान्य है।

तथा च—यदि आपके कथनानुसार ईश्वर इन (श्वास प्रश्वास आदि) सब क्रियाओं का सीधा (साक्षात्) निमित्त कारण (कर्ता) हो (जावे) तो वह ही उन सब क्रियाओं के फल का भोक्ता भी होना चाहिये। जीव को उन कर्मों (क्रियाओं) का फलभोक्ता नहीं माना जा सकता, क्योंकि आपके मतानुसार वह उन क्रियाओं का निमित्तकारण (कर्ता) ही नहीं है।

पृष्ठ २२ के अन्त में तथा २३ के आरम्भ में लिखा है—

जि०……उपर्युक्त क्रियाओं का निमित्त जीव को ही क्यों न माना जावे?

पं०………मित्र! ऐसा मानने से अनेक मान्य वैदिक सिद्धान्तों की हानि होगी।

जि०—वह कैसे?

पं०—सबसे बड़ी हानि तो हमारे आस्तिकतारूप सिद्धान्त की होगी, यदि उपर्युक्त क्रियाओं का निमित्त जीव ही मान लिया जावेगा तो परमेश्वर की उपयोगिता ही समाप्त हो जावेगी। इत्यादि।

समीक्षा—आदरणीय पण्डित जी पूर्वोक्त शास्त्रसम्मत सिद्धान्त से ईश्वर की सत्ता वा उपयोगिता समाप्त नहीं होगी अपितु पुष्ट होती है क्योंकि जीवों के

अदृष्ट (धर्माधर्म) का प्रेरक कौन होगा? बिना ईश्वर के। यतः जीवों के अदृष्ट तो जड हैं, अतः स्वयं प्रेरित (गतिमान्) नहीं हो सकते। जीव को अपने अदृष्ट का ज्ञान नहीं; अतः इस संसार चक्र का आदि प्रवर्तक (संचालक) वह ईश्वर ही है क्योंकि वह सर्वज्ञ है और सर्व शक्तिमान् है।

अनुमानप्रमाण—सुप्तस्य प्राणक्रिया प्रयत्नपूर्विका, प्राणक्रियात्वात् जाग्रतः प्राणक्रियावत्।

व्याप्तिः—यत्र यत्र प्राणकर्मत्वम्, तत्र तत्र प्रयत्नपूर्वकत्वम् ॥

पृष्ठ २६ पं० १६ से २५ तक तथा पृ० २७ पं० १—३ में लिखा है—

"यदि चैतन्य [चेतन] जीव की सत्तामात्र से सारे ये दूसरे प्रकार की क्रियायें चल सकती हों—तो परमात्मा जैसे चेतन की सत्ता मात्र से सारे जड जगत् को भी चेतनवत् व्यवहार करना चाहिये, इत्यादि। '………तीसरी आपत्ति यह आवेगी कि लाश में बहुत से जीव जन्तु पैदा हो जाते हैं—इस प्रकार असंख्य जीवों की सत्तामात्र से क्या वह लाश सक्रिय हो सकती है?' इत्यादि।"

समीक्षा—सत्ता से आपका अभिप्राय सम्बन्ध से ही होगा। जिस शरीर के साथ फल भोग और स्वतन्त्र कर्म करने के लिए जिस जीव का स्वामिभाव सम्बन्ध है उसका अपने घर में ही अस्तित्व होने से वहीं पर उसके प्रयत्न से क्रियायें होंगी, अन्यत्र नहीं। ईश्वर का सम्बन्ध जड जगत् के साथ केवल व्याप्य व्यापकभाव व निर्मातृत्व-सम्बन्ध ही है। जगत् ईश्वर का विकार नहीं, क्योंकि ईश्वर चेतन सत्तामात्र ही है। अतः जगत् चेतन नहीं होता। 'जीव जन्तु पैदा हो जाते हैं' ऐसा कथन अशास्त्रीय है क्योंकि जीव पैदा नहीं होते वे तो नित्य हैं।

लाश का और उसमें उत्पन्न क्रिमियों के स्वशरीरों का सम्बन्ध आधार आधेयरूप संयोग सम्बन्ध है; अतः क्रिमियों के सम्बन्ध से लाश सचेतन नहीं होती। लाश के साथ जिस जीव का अपना घर होने से उसके साथ स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध था उसके निकल जाने से वह शरीर मुर्दा कहा जाता है।

आपने यहाँ पर जिज्ञासु द्वारा तथा स्वयं भी जीव के लिये 'साभिमानी' विशेषण का प्रयोग किया है किन्तु व्याकरण शास्त्रानुसार यहां पर इसका प्रयोग अशुद्ध है। क्योंकि 'अभिमानोऽस्यास्तीति अभिमानी मत्वर्थीय इनिः प्रत्यय। अथवा अभिमन्तुं शीलः अभिमानी, ताच्छिल्य अर्थ में णिनि प्रत्यय। पुनः उसका 'सह' अव्यय के साथ समास होने पर 'अभिमानिना सह वर्त्तते इति साभिमानी' रूप बनता है। 'अभिमानवाला' वा अभिमान करने का

जिसका स्वभाव है यह—अभिमानी शब्द का अर्थ हुआ। पुनः अभिमानी सहित 'साभिमानी' कहा जावेगा। इसलिये केवल अभिमानी शब्द का प्रयोग ही उचित है। अथवा 'साभिमान' शब्द का प्रयोग भी व्याकरणशास्त्र के अनुसार उचित हो सकता है।

अभिमानी जीव (प्राणी) वह है जिसकी कर्मरूपी पुञ्जों से उस शरीर का निर्माण हुआ है जो उस शरीर का स्वामी है, वही उसके फल का भोक्ता है।

आपने पृष्ठ २४ पर लिखा है—'नासिका इन्द्रिय द्वारा श्वास प्रश्वास की क्रिया होती है।' तथा ऐसा ही पृष्ठ २५ पर भी स्वीकार किया है। परन्तु ऐसा समझना भ्रान्ति है क्योंकि आपने नासिका इन्द्रिय (घ्राणेन्द्रिय) नासापुटों को एक ही समझ लिया प्रतीत होता है; परन्तु नासिकेन्द्रिय जिसका नाम 'घ्राण' भी है—उसका एक ही कार्य है—सुगन्ध और दुर्गन्ध का ग्रहण करना। नासिका छिद्र इन्द्रिय नहीं है। नासिका छिद्र तो ऐसे ही शरीर का अवयव है जैसे रोमकूप व कर्णछिद्र (विवर) हैं।

पृष्ठ २७ के अन्त में तथा २८ के आरम्भ में आप लिखते हैं—

"परन्तु शरीर जीव के निर्मित्त के बिना भी बढ़ता रहता है। उसमें रक्त संचार आदि क्रियायें प्राण के आधार पर होती रहती हैं॥"

समीक्षा—किस शास्त्र में लिखा है कि शरीर का बढना जीव के बिना भी हो सकता है? यदि बिना जीव के शरीर बढ सकता है तो मृतक शरीर की वृद्धि क्यों रुक जाती है? आप कहेंगे उसमें प्राणादि नहीं रहे—इसलिये वृद्धि रुक जाती है। परन्तु हमारा प्रश्न तो यही है कि उसमें से प्राणादि क्यों चले गये? प्राण का निमित्त (शरीर में रहने का हेतु) क्या है? कणाद जी और प्रशस्तपादाचार्य के मतानुसार प्राणादि का कारण जीव है। परन्तु आपके मतानुसार ईश्वर प्राणादि का निमित्त है। वह ईश्वर तो शरीर की मृतक दशा में भी वहां विद्यमान है फिर प्राणादि का कार्य क्यों बन्द हो गया? इसलिये जीव को ही प्राणादि क्रिया का निमित्त मानना चाहिये। जिसके होने पर प्राणादि की क्रिया होती हैं; उसके न रहने पर बन्द हो जाती हैं।

वृक्षादि में जीव होने के प्रमाण—

वृक्षादयः सजीवाः प्राणादिमत्वात् (१), जीवनवत्वात् (२), गतिमत्वात् (३), मनुष्यादि प्राणिवत्। यो यो प्राणादिमान्, जीवनवान् गतिमांश्च वर्त्तते स स सजीवः, यथा मनुष्यादयः, तथा चेमे वृक्षादयः, तस्मात् तथा, सजीवा इत्यर्थः।

अर्थ-वृक्षादि स्थावर सजीव हैं (प्रतिज्ञा), प्राणापानादिवाले होने से, तथा जीवन सहित होने से और गति=यथेष्ट गमन क्रियावाले होने से (तीन हेतु), मनुष्यादि प्राणियों के समान (उदाहरण)। वृक्ष लता आदि में भी गति = यथासम्भव ऊपर, नीचे, दांये, बांये, यथेष्ट चारों तरफ (सब दिशाओं में) गमन करना उपलब्ध है जहां गति का अभाव है वहां जीव भी नहीं है। जैसे पत्थर आदि।

उनका लेख है—"यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्त्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते; हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रति अभिमुखीभवन्ति। एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीन् आक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्त्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्त्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनात् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारः तत्कालः समान इति निश्चीयते॥"

भाव—जिस प्रकार पशु आदि तिर्यक् प्राणी इन्द्रियों के साथ तत्तत् विषय का सम्बन्ध होने पर अभिमत का ग्रहण और अनभिमत का त्याग कर देते हैं। जैसे कि हाथ में दण्ड लेकर मारने को उद्यत मनुष्य को देखकर भाग जाते हैं, हाथ में हरी २ घास लेकर मीठी वाणी से पुकारने पर उसके पास आजाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी शस्त्र हाथ में लेकर मारने के लिए सन्नद्ध बलवान् पुरुषों से किनारा कर जाते हैं तथा मिलने के लिए आया समझकर उनसे मिल जाते हैं। इस प्रकार पुरुषों का प्रमाण प्रमेय व्यवहार भी पशुओं के समान ही है विपरीत नहीं। पशु आदि का व्यवहार अविवेक पूर्वक होता है यह सब स्वीकार करते हैं। इसलिये पशुओं की समानता से बुद्धिमान्, विचारशील, विवेकी, विद्वान्, मनुष्यों का व्यवहार भी अविवेकपूर्वक ही समझना चाहिये।

इसी प्रकार का आपका भी तर्क है। 'चूंकि सोते समय प्राण कार्य इच्छा द्वेषजनित प्रयत्न के बिना होता है इसलिये जागृत दशा में भी हमारे इच्छा द्वेष जनित प्रयत्न के बिना ही होता है।'

चाहिये तो इस प्रकार तर्क करना 'चूंकि जागृत दशा में प्राण-कार्य इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न की अपेक्षा से होता है, इसलिये सोते समय भी अनुमान करना कि शयनकाल में भी प्राणकार्य प्रयत्नविशेषपूर्वक ही होता है। परन्तु

नवीन वेदान्तियों के समान विपरीत तर्क से विपरीत ज्ञान कर लिया।

वृक्षादि में ज्ञानादि गुणों का अभाव प्रसिद्ध सम्बन्ध के न होने से है। परन्तु जीव के लक्षणभूतप्राणादि कर्म होने से जीव की विद्यमानता स्वीकार करनी चाहिये।

मनुष्यादि प्राणियों में प्रसिद्ध सम्बन्ध होने से ज्ञानादि गुणों का ग्रहण भी है।

जहां पर जीव की विद्यमानता के ज्ञापक गुण कर्मों में से एक भी गुण वा कर्म की प्रतीति हो वहां पर जीव का निषेध किस प्रकार किया जा सकता है? क्योंकि वे गुण व कर्म तो जीव के लक्षण हैं। जीव के होने पर ही उनका होना सम्भव है। जीव के अभाव में उनका होना असम्भव है, क्योंकि उनका जीव से अविनाभाव सम्बन्ध है।

इसलिये वृक्षादि स्थावरों में भी जीव मानना चाहिये।

प्रथम दिन के संवाद की समीक्षा समाप्त हुई।

दूसरे दिन के संवाद की समीक्षा

सुषुप्ति विषयक

इस प्रकरण पर विचार करने से पूर्व हमको जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के स्वरूप का ज्ञान कर लेना चाहिये। इससे इस प्रकरण के समझने समझाने में सरलता रहेगी।

जागृत—जब इन्द्रियां अर्थों में मन इन्द्रियों के और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर बहिर्मुख होता है तब 'जागृत अवस्था होती है।

स्वप्न १—यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥
(चरक)

२—"हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम्॥
(सुश्रुत शा० स्थान श्लो० ३३)

३—निद्राहेतुस्तमः सत्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते॥
(सु०शा० श्लोक ३४)

४—श्लेष्मावृतेषु स्रोतस्सु श्रमादुपरतेषु च।
इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्रा विशति देहिनम्॥
(अष्टांगहृदय सूत्र० श्लोक ६)

५—अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा॥
(योगदर्शन समाधिपाद सूत्र १०)

अर्थ—१. जब चेष्टा करते २ मन क्लान्त हो जाता है और इन्द्रियां अपने २ व्यापार से उपरत हो जाती हैं तब मनुष्यादि प्राणी सो जाते हैं।

२. हे सुश्रुत! प्राणियों का हृदय चेतना (ज्ञान) का स्थान है। उसके तमोगुण से आवृत होजाने पर प्राणी को नीन्द आजाती है।

३. निद्रा का कारण तमोगुण है। बोध (जागरण) का कारण सत्वगुण है। अथवा नीन्द और जागरण में प्राणियों का अपना २ स्वभाव ही गुरुतर (मुख्य) कारण मानना चाहिये।

४—संज्ञावाही स्रोतों ज्ञानतन्तुओं के कफ से अवरुद्ध हो जाने पर और श्रम के कारण इन्द्रियों के अपने २ कर्म (व्यापार) से उपरत हो जाने पर प्राणियों को निद्रा आजाती है।

५—निद्रा भी चित्त की वृत्ति (अवस्था) विशेष है, जिसमें विषयों के अभाव रूप ज्ञान का आलम्बन (आश्रय) होता है।

'जागृत' अवस्था प्रत्यक्ष है। निद्रावस्था लक्षणों से जानी जाती है। सामान्य निद्रा का नाम स्वप्नावस्था और गाढनिद्रा का नाम 'सुषुप्ति' है।

जागृतावस्था में जीव का सम्बन्ध मन, इन्द्रियों शरीर और बाह्यजगत् के साथ एकसूत्ररूप बना रहता है। स्वप्नावस्था में बाह्यजगत् के साथ जीव का सम्बन्ध नहीं रहता परन्तु मन और उसके द्वारा शरीर से बना रहता है।

सुषुप्ति अवस्था में जीव का सम्बन्ध मन से भी नहीं रहता क्योंकि उस समय जीव कारण शरीर में ही रहता है। कारण शरीर सर्वत्र एक समान है जो कि प्रकृति की अतीव सूक्ष्मावस्था है।

पृष्ठ ३० पर पण्डित जी लिखते हैं—

'क्योंकि सुषुप्ति एक अवस्था है जो जागृत की अपेक्षा से होती है। जब उसमें (वृक्ष में) जागृत कभी भी नहीं रही और न कभी रहेगी तो फिर उसमें (वृक्षादि में) सुषुप्ति किस प्रकार मानी जासकती है।'

समाधान—ठीक है यदि 'जागृत' नहीं तो शेष दोनों अवस्था में भी नहीं हो सकतीं। 'सुषुप्ति' शब्द से यह सिद्ध है कि जो सुषुप्त दशा में अब जीव है, वह स्वप्न और जागृत में भी कभी था। अतः वृक्षों में जीव सुषुप्त होने पर भी यह सिद्ध है कि वृक्षादि योनियों से पूर्व अन्य योनियों में वह जीव जागृत में भी था।

लोक में देखा जाता है कि कोई कोई मनुष्य मानसिक आघात के कारण सुषुप्त अवस्था में चला जाता है और मृत्यु तक वह सुषुप्तावस्था बनी रहती है। तो क्या वह मनुष्य कभी जागृत में नहीं था? श्री माननीय पण्डित जी! अवस्थाएं जीव की होती हैं शरीर की नहीं। शरीर तो सभी दशाओं में एक समान है। अतः वृक्ष सुषुप्ति अवस्था का जीव है, ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति (दोष) नहीं। जीव की जागृत के बाद सुषुप्ति और सुषुप्ति के बाद जागृत अवस्था पर्याय से दिन रात के समान होती रहती हैं।

जब जीव मनुष्यादि प्राणि-योनियों में होता है तब प्रधानता से जागृता-

वस्था रहती है और जब वृक्षादि अप्राणी योनियों में स्थिति करता है तब सुषुप्ति अवस्था होती है।

मनुष्यादि योनियों में जीव की सुषुप्ति अवस्था स्वल्पकालिक होती है और वृक्षादि स्थावरों में दीर्घकालिक। इसलिये उनकी सुषुप्ति को 'महासुषुप्ति' कहा गया है। इनमें जीव के कर्मफलभोग कारण हैं।

यदि आप ऐसा स्वीकार नहीं करते तो इस बात का उत्तर दीजिए मनुष्य मर कर जब तक अगला जन्म धारण नहीं करता तब तक इस मध्य की दशा में तथा प्रलयावस्था में जब जीव करोड़ों वर्षों तक निकम्मे पड़े रहते हैं उस काल में जीव की कौनसी अवस्था होगी? बिना अवस्था के जीव रह नहीं सकता; मध्यकाल में (मरण के बाद पुनरपि प्राणियों में पैदा होने तक) तथा प्रलयावस्था में जागृत अवस्था तो हो नहीं सकती वा होती नहीं, तो क्या सुषुप्ति भी नहीं होनी चाहिये? उस अवस्था को सुषुप्ति भी नहीं कहोगे तो क्या संज्ञा दोगे? अवस्थाएं केवल जीव को तीन ही हैं जागृत स्वप्न और सुषुप्ति।

इसलिये जहाँ जिस अवस्था का लक्षण घट जावे वहाँ वही अवस्था है यही मानना (मत) उचित है।

पृष्ठ ३२ पं० ६ पर आप लिखते हैं—

"भाई! वृक्ष को शरीर कैसे माना जा सकता है। क्योंकि शरीर के लक्षण शास्त्रकारों ने किये हैं—

१—चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।

२—भोगापवर्गार्थाश्रयः शरीरम्।

वृक्ष उपर्युक्त दोनों ही लक्षणों से शरीर होने के योग्य नहीं। न तो उस में चेष्टा है और न किसी बाह्य विषयों को ग्रहण करने योग्य इन्द्रियां ही।"

समीक्षा—'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' यह तो न्यायदर्शन का (१-१-१०) सूत्र है। परन्तु दूसरा वचन कहां का है पता नहीं, यदि पता लिख देते तो ज्ञान हो जाता।

भिन्न भिन्न शास्त्रकार अपने अलग अलग प्रतिपाद्य विषयों को लक्ष्य करके तदनुरूप ही शैली को लेकर चले हैं। उस प्रतिपाद्य विषय के लिये जिस वस्तु का जो स्वरूप बताना आवश्यक है उतने का ही उन्होंने प्रतिपादन किया है। ऋषिजन न तो विषयान्तर में जाते हैं और न न्यूनाधिक का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु आवश्यक का ही प्रतिपादन करते है, अनावश्यक का नहीं।

'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' प्रमाणों के द्वारा पदार्थों की परीक्षा (जांच पड़ताल) करना न्याय कहाता है। न्याय के लिये 'प्रमाता' की आवश्यकता है इसलिये प्रतिपाद्य प्रमेयों में प्रमाता रूप आत्मा का निर्देश सर्वप्रथम किया गया है। तथा तदनुरूप ही उसका स्वरूप निर्देश (लक्षण) 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति' इस सूत्र से किया गया है। न्याय करने के लिये परीक्षक में विशिष्टरूप से गुणों की ही आवश्यकता होती है इसलिये उसके अनुमापक गुणों का ही आवश्यक समझकर सूत्रकार ने निर्देश किया है।

जीवात्मा के अनुमापक कर्मों का प्रतिपादन न करने से यह नहीं समझना चाहिये जि जीवात्मा के अनुमापक (लिङ्ग) कर्म नहीं हैं, अथवा हो नहीं सकते। क्योंकि जीवात्मा केवल गुणों का ही पुतला नहीं है कर्म भी उसके द्वारा किये जाते हैं।

जीवात्मा के ज्ञापक (लिङ्ग) गुण और कर्मों का प्रतिपादन वैशेषिक दर्शन में किया गया है, इससे न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन में विरोध है ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वैशेषिककार तो सर्वप्रथम धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये इस विषय को लेकर चले हैं।

धर्म करने के लिए (धर्मानुष्ठानार्थ) गुण और कर्म दोनों की आवश्यकता होती है। एकाकी गुणों से वा केवल कर्मों से धर्मरूपफल की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये धर्म के आश्रयभूत जीवात्मा के कर्मों और गुणों का प्रतिपादन करना उनके लिए आवश्यक था अतः दोनों का ही निर्देश वैशेषिककार ने किया है। न्यायशास्त्रकार ने स्वसीमा से बहिर्भूत होने के कारण नहीं किया।

न्यायसूत्र में गुणों का क्रमनिर्देश भी इस अभिप्राय को सूचित करता है। वैशेषिककार ने जीव के बोधक गुणों में प्रथम निर्देश ज्ञान का किया है, किन्तु न्यायशास्त्र में सर्वप्रथम इच्छा गुण को लिखा, इसका कारण यह है कि परीक्षा में जाँच पड़ताल करने के लिये प्रथम जिज्ञासा (जानने की इच्छा) का होना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना परीक्षण आरम्भ नहीं होगा। इच्छा होने पर अनुकूल साधनों का ग्रहण प्रतिकूल का बहिष्कार करना आवश्यक है अतः इच्छा के पश्चात् द्वेष गुण का निर्देश किया। ग्रहण और त्याग के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है इसलिये द्वेष के अनन्तर प्रयत्न गुण का प्रतिपादन है। प्रयत्न करते समय कुशल अकुशल कर्म होंगे उससे धर्माधर्म (अदृष्ट) होकर सुख दुःख को प्राप्ति होगी इसलिये प्रयत्न के अनन्तर सुख दुःख गुणों का निर्देश किया; उनमें भी सुख के इष्ट होने से उसका प्रथमनिर्देश है। ज्ञान का निर्देश करना भी आवश्यक था क्योंकि ज्ञान के विना किसी भी कार्य में कृतकार्यता

होती ही नहीं, अतः अन्त में उसका भी प्रतिपादन कर दिया।

इसी प्रकार प्रमाता साधनों के बिना तत्त्व का निर्णय नहीं कर सकता अतः ज्ञानेन्द्रियों का ही प्रतिपादन न्यायशास्त्र में हुआ है। अनावश्यक होने से कर्मेन्द्रियों का नहीं।

प्रमाता (आत्मा) और उसके ज्ञान के साधारण रूप इन्द्रियों का आश्रय जो देह है उसका शरीर नाम से निर्देश किया है। यह न्यायशास्त्र की शरीर की परिभाषा (लक्षण) तान्त्रिकी समझनी चाहिये।

वृक्षादि स्थावरों के लिये उन्होंने देह वा विग्रह आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

अन्य शास्त्रकारों में सांख्य शास्त्रकार ने कर्मेन्द्रियों और उनके कार्यों का ज्ञानेन्द्रियों के समान पृथक् निर्देश किया है। यह तो ऋषियों का अपने २ प्रतिपाद्य विषय को समझाने का ढंग है। उसमें विरोध की कल्पना करना आर्ष दार्शनिक शैली परिज्ञान रहित विद्वानों की हो सकती है, ऋषियों की वा उनकी परिपाटी का अनुसरण करनेवाले विद्वानों की नहीं।

'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' यह लक्षण उसी प्रमाता जीवात्मा के शरीर का है।

परन्तु जिस ढंग से आप सोचते हैं हम भी उसी ढंग से उत्तर देते हैं—

चेष्टा वृक्षादि में है क्योंकि एक नीम का वृक्ष अपने योग्य कटु अंश को पृथिवी के अन्दर से प्राणों आदि द्वारा आकर्षित कर लेता है और अपने लिये अनुपयोगी अंश को छोड़ देता है। इसी प्रकार मिर्च का पौदा तिक्त भाग को, इक्षुकाण्ड (गन्ना) मिष्ट भाग को आकर्षित कर लेते हैं तथा जो अपने लिए अनावश्यक विरोधी तत्त्व हैं उनको छोड़ देते हैं अर्थात् ग्रहण नहीं करते। इष्ट के ग्रहण और अनिष्ट के त्याग के अनुकूल व्यापार को ही चेष्टा कहते हैं, वह वृक्षादि में सिद्ध है। आप कह सकते हैं यह कार्य ईश्वर करता है क्योंकि उनमें ज्ञान तो है ही नहीं। यहां हमारा वक्तव्य है कि चेष्टा तो है, इसका निषेध तो आप भी नहीं कर सकते क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रतीति है।

हमारा मत है—तत् तत् पौदे के अधिष्ठाता (स्वामी) जीव, जिसकी कर्म रूपी पुञ्जी से उसका निर्माण हुआ है, उस जीव के अदृष्ट (धर्माधर्म) कारित जीवन-योनि प्रयत्न विशेष इसमें कारण है। हां उस अदृष्ट के जड होने से उसको प्रेरित करनेवाला ईश्वर है।

[इस प्रकार ईश्वर ही जीव में व्यापक होने और सर्वाधिष्ठाता होने से इस प्रक्रिया का संचालन करता है।]

इसी प्रकार शरीर का 'इन्द्रियाश्रय' विशेषण (लक्षण) भी वृक्षादि में घटित हो सकता है। क्योंकि इन्द्रियां दो प्रकार की मानी गई हैं ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां। कर्मेन्द्रियों के आश्रय वृक्षादि हैं क्योंकि उनकी देह के विभिन्न अंग (अवयव) ही विभिन्न कर्मेन्द्रियां है।

सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान न होने से ज्ञानेन्द्रियों के व्यवहार की आवश्यकता नहीं, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में भी प्राणादि संचालित कर्मेन्द्रियों के कार्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि ज्ञान से अभिप्राय नैमित्तिक= अर्थात् मानसिक और इन्द्रियजन्य ज्ञान से है। इसका सुषुप्ति में भाव नहीं होता।

इसी प्रकार 'अर्थाश्रयः' यह भी शरीर का विशेषण वृक्षादि में घटि होता है। क्योंकि वृक्षादि स्थावरों में उन जीवों की प्रतिष्ठा (स्थिति) कर्मा- नुसार और किसी उद्देश्य को लेकर हो हुई है। उस प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति विशेष का फल उन जीवों को समय आने पर (अवसर पर) अवश्य प्राप्त होगा।

दूसरा वचन 'भोगापवर्गार्थाश्रयः शरीरम्" यह कहाँ का वचन है? किसने कहा है? क्यों कहा है? इसका प्रकरण को देखकर ही ठीक उत्तर दिया जा सकता है।

संगति लगाने के लिए 'शरीरम्' से मनुष्यादि शरीर ही अर्थ लेकर इसका अर्थ यह होगा—मनुष्य का शरीर भोग अर्थात् इन्द्रिय जन्य सुख दुःखानुभव और अपवर्ग अर्थात् मुक्ति रूपी अर्थ अर्थात् फल का आश्रय है। भाव यह है कि मनुष्य शरीर द्वारा सकाम कर्मानुष्ठान से भोग मिलते हैं और निष्का धर्मानुष्ठान से मुक्ति प्राप्त होती है।

परन्तु यदि आप यहां भी 'शरीर' से जीवमात्र वा प्राणीमात्र के शरीरों ग्रहण करेंगे तो आपका यह लक्षण 'अव्याप्ति' दोष से दूषित होगा। क्योंकि वृक्षादि के समान पशु आदि के शरीर से भी मुक्ति नहीं प्राप्त की जासकती। पशु शरीर द्वारा जीव भोग तो सकता है परन्तु मुक्ति को कोई भी कदा प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार जीव स्थावर देहों द्वारा साधनों के न हो से भोग नहीं भोग सकता इसी प्रकार मनुष्येतर प्राणी शरीरों से भी जो साधनाभाव से ही मुक्ति की सिद्धि नहीं कर सकता।

अब मैं आपकी सेवा में वृक्षों में गाढनिद्रा वा महासुषुप्ति अवस्था हो है इस विषय में वेदमन्त्र उपस्थित करता हूं, ध्यान से उस पर वि कीजिये—

ओम् अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिवी अस्थाद्विश्वमिदं जगत्।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगोऽयं तव॥
(अथर्व० कां० ६-१४४ मं० १)

अर्थ—(द्यौः अस्थात्) पवित्र ज्ञान और पवित्र कर्मों से प्रकाशमान देव और पितृगण अपनी २ मर्यादा अर्थात् कर्त्तव्यपालन में यथावत् स्थित हैं। अथवा नियम से चल रहे हैं। (अस्थात् पृथिवी) पृथिवी से लेकर परमाणु पर्यन्त जड जगत् ईश्वरीय मर्यादा में स्थित है वा यथावत् गति कर रहा है। (इदं विश्वं जगत्) यह परिदृश्यमान पशु आदि जंगम जगत् भी अपने २ नियमों में बन्धा हुआ स्थित है वा चल रहा है। कभी ईश्वरीय नियमों का व्यतिक्रम नहीं करता। तथा (ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः अस्थुः) महासुषुप्तिवाले वृक्षादि स्थावर भी ईश्वरीय नियम में आबद्ध स्थित हैं। (तव अयं रोगः तिष्ठात्) तुम सामान्य मनुष्य का यह नियम व्यतिक्रम से उत्पन्न शारीरिक वा मानसिक रोग शरीर वा मन से निष्क्रमण कर जावे अर्थात् चला जावे।

पूर्वोक्त अर्थ के प्रति विशेष वक्तव्य—

प्रथम जगत् के दो भेद होते हैं--प्राणी और अप्राणी (चर अचर)। पुनः प्राणी जगत् के भी दो भेद चेतन और जङ्गम हैं। यहां चेतन से मनुष्य ग्राह्य है, उसके भी तीन अवान्तर भेद हैं–देव, पितर और मर्त्य। जंगम के भी पशु पक्षी कीट पतंगादि असंख्य जाति भेद हैं।

अप्राणी (अचर) जगत् के भी दो भेद हैं; एक स्थावर वृक्षादि। दूसरा परमाणु (प्रकृति) से लेकर पृथिवी पर्यन्त जड जगत्। इस मन्त्र में 'द्यौ' पद से देव और पितरों का ग्रहण करना चाहिये। 'पृथिवी' पद से पृथिव्यादि परमाणु पर्यन्त जड जगत् का। 'तव' पद से मर्त्य (साधारण मनुष्य) का, 'वृक्षाः' पद से वृक्ष लता आदि स्थावर जगत् का। परिशेष न्याय से 'इदं विश्वं जगत्' से पश्वादि जंगम जगत् का ग्रहण करना चाहिये।

'स्था' धातु गतिनिवृत्ति अर्थ में मुख्य रूप से पठित है। परन्तु 'धातूनामने- कार्थाः' इस महाभाष्य के वचनानुसार धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। तदनुसार लोक में उन अर्थ विशेषों को उपसर्ग प्रकाशित (प्रकट) कर देते हैं। इसी नियम से 'स्था' धातु के गति अर्थ को 'प्र' उपसर्ग प्रकाशित करता है। परन्तु वेद में यदि 'प्र' उपसर्ग नहीं और गति अर्थ की संगति लगती हो (गति

अर्थ संगत हो) तो वह भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि 'अर्थनित्यः परीक्षेत' इस निरुक्त के वचनानुसार।

'ऊर्ध्वं-स्वप्नाः' पद बहुव्रीहि समासान्त है।

स्वप्न का अर्थ सामान्यनिद्रा भी होता है और स्वप्नावस्था भी। अतः 'ऊर्ध्वस्वप्नाः' का अर्थ होगा—उत्कृष्ट निद्रावाले वा स्वप्नावस्था से ऊपर (बाद) की अवस्थावाले। उत्कृष्टनिद्रा वा स्वप्नावस्था से ऊपर की अवस्था सुषुप्ति वा महासुषुप्ति ही है। इस से सिद्ध है कि वृक्षों में जीव है और वह महा सुषुप्ति में है। जीवों की सुषुप्ति अवस्था तो आप भी स्वीकार करते हैं।

प्रलयकाल में संसारी जीव किस अवस्था में रहेंगे ? और क्यों ? कारण सहित बतावें ?

हमारे द्वारा अभी कहे गये सुषुप्ति अवस्था के प्रकरण पर पुनः विचार कीजिए जिस से वृक्षों की सुषुप्ति अवस्था सिद्ध है।

आगे पृष्ठ ३३ पर आपने तीन हजार वर्ष की आयु वाले वरगद के वृक्ष की कल्पना की है। यहां 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' वाली उक्ति चरितार्थ होती है।

सामान्य रूप से वृक्षादि स्थावरों का भी आयुमान मनुष्यादि प्राणी योनियों के समान ही समझना चाहिये।

मनुष्यों का योगाभ्यास आदि से जितना अधिक से अधिक आयु का परिमाण हो सकता है लगभग उतना आयु परिमाण वनस्पति का भी सम्भव है।

यह द्वितीय दिन के सम्वाद की समीक्षा समाप्त हुई।

तीसरे दिन के संवाद की समीक्षा

भोक्ता तथा भोग विषयक

पृ० ३४ पं० २१-२३ पर तथा आगे भी आप लिखते हैं—

'पं०—तब तो लुहार की धौंकनी और स्पंज या रसगुल्लों को भी सजीव मानना होगा, क्योंकि लुहार की धौंकनी भी बाहर से वायु को ग्रहण करती तथा बाहर को फेंकती रहती है। और स्पंज या रसगुल्ले भी अपने समीपस्थ रस या जल को ग्रहण करते रहते हैं।'

समीक्षा—लुहार की धौंकनी जड है इसलिए अपने आप (स्वयम्) वायु को ग्रहण नहीं कर सकती और न छोड सकती है। तथा वायु भी जड होने से स्वयम् उसके अन्दर नियमित रूप से गमनागमन (आना जाना) नहीं कर सकता। वहां तीसरा लोहकार (चेतन) ध्मापयिता (धौंकनी का चालक) है तभी वायु नियम से धौंकनी में आता जाता है। ध्मापयिता की क्रिया के अभाव में वहां वायु का गमनागमन बन्द हो जाता है। इसी प्रकार स्पंज व रसगुल्ले भी जड तथा जल व रस भी जड होने से परस्पर संयुक्त और वियुक्त नहीं हो सकते; उनको परस्पर संयुक्त और वियुक्त करनेवाला तीसरा संयोजक वियोजक मनुष्य (चेतन) अपेक्षित है।

इस धौंकनी के दृष्टान्त से तो मनुष्यादि में तथा वृक्षादि में भी नियमित रूप से प्राणादि की क्रिया होने से जीव ही सिद्ध होता है, जीव का खण्डन नहीं होता।

पृ० ३५ (पं० १०-१२) पर आप लिखते हैं—

'वस्तुतः वृक्षों में वायु को ग्रहण करना और बाहिर फेंकना या रस का ग्रहण होकर उसका अन्तःसंचार होना यह जीव का कार्य नहीं अपितु प्राण का कार्य है।'

समीक्षा—पूर्वोक्त कार्य प्राण आदि के द्वारा होते हैं परन्तु प्राण आदि तो जड होने से करण हैं। उन कर्मों का कर्तृत्व (कर्तापन) तो जीवात्मा पर ही है क्योंकि उसके कर्मानुसार ही यह देह उसको रहने को मिली है। उन कर्मों के क्षीण (समाप्त) हो जाने पर जीव निकल जाता है अतः कर्ता (मालिक) के अभाव में करण (सेवक) भी नहीं रहते, तब वृक्ष सूख जाता है।

प्राणादि को जीव का साधन (करण) शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है। आप अपने पूर्वाग्रह के कारण स्वीकार न करें तो दूसरी बात है।

जिस प्रकार आप पूर्वोक्त कर्मों को प्राण का कथन करके वृक्षों में जीव का निषेध करते हैं उसी प्रकार कुछ नास्तिक जन जो जीवात्मा हमारे शरीर में है उसका भी निषेध करते हैं। वे शरीरस्थ भिन्न २ कर्मों को भिन्न २ अङ्गों का बतलाकर जीवात्मा की सत्ता का ही अपलाप (लोप) कर देते हैं। जैसे देखना आंख का कार्य, शब्द श्रवण करना कानों का कार्य है, सूंघना नाक का, स्वाद लेना रसना का, स्पर्श का अनुभव करना त्वचा का, चलना पाद का, ग्रहण करना हस्त का, भूख प्यास का लगना प्राणों का, ज्ञान आदि करना मन का कार्य है जीवात्मा का नहीं, इत्यादि। ऐसी अवस्था में जीवात्मा की क्या आवश्यकता रह जाती है ? आप के पूर्वोक्त कथन से तो वृक्षादि में क्या आप (जीवात्मा) का भी खण्डन होगया।

'चले थे चोबे जी छब्बे बनने, गांठ के भी दो देकर दूबे रह गये' यह कहावत चरितार्थ होगई।

इसलिए यही बात समुचित है कि सब शरीरों में भिन्न २ साधनों से होनेवाले समस्त कर्मों का निमित्त कारण जीवात्मा है जिस के लिए वे सब कर्म हो रहे हैं।

इतना अवश्य है जिस प्रकार जब तक बालक अवयस्क (नाबालिग) रहता है तब तक उसके संरक्षक माता पिता आदि रहते हैं, ज्यों २ वह समर्थ होता जाता है त्यों २ वह अपने कार्यों में स्वतन्त्र होता जाता है। इसी प्रकार जिन २ योनियों में जीव जितना २ ज्ञान रहित होता है उतना २ उसका नैमित्तिक रूपसे संरक्षण कर्ता परमात्मा अधिक होता है।

मनुष्यों की अपेक्षा ज्ञानप्राप्ति के साधन पशु आदि में कम हैं इसलिए उनको जीवनरक्षा का सहज (योनिज) ज्ञान परमात्मा दे देता है। उनकी अपेक्षा स्थावर योनि के जीव ज्ञान के साधनों से सर्वथा उसके और मनुष्यों के आश्रित हैं।

जिस प्रकार यज्ञकर्म में पुरोहित यजमान के जड अर्थात् मन्दमति होने पर मन्त्रोच्चारण आदि ज्ञान के कार्य जो उससे नहीं हो सकते उनको स्वयम् करता है, शेष कर्म उस मूढ यजमान से कराता है।

पृष्ठ ३५ पंक्ति १३ पर आप लिखते हैं—

'यह कार्य सजीव प्राणियों में भी प्राण के द्वारा परमेश्वर के निमित्त से चलता है।'

समीक्षा—इसका सीधे शब्दों में भाव यह निकला कि—ईश्वर तो कर्ता है प्राण उसके साधन हैं मनुष्य आदि प्राणी कर्मफल भोगनेवाले हैं। परन्तु

ऐसी आपकी धारणा भ्रान्त है। प्राण जीव के ही साधन हैं, परमात्मा के नहीं, जीव ही प्राणों का स्वामी (मालिक) है वही कर्त्ता है=उनसे कार्य करनेवाला है इसलिए वही तज्जन्य सुख दुःख का भोक्ता है।

यदि जीव को कर्त्ता न मानकर ईश्वर को कर्त्ता माना जावे तो उस को भोक्ता भी स्वीकार करना होगा। किन्तु ईश्वर को भोक्ता आप भी स्वीकार नहीं करते; अतः कर्तृत्व भी ईश्वर में नहीं हो सकता। जीव स्वतन्त्रता से कर्म करता है तदनुसार ही परमात्मा जीव के भोगार्थ साधनों का निर्माता है। जीव अल्पज्ञ अल्पशक्ति होने से प्राणादि साधनों का स्वयं निर्माण नहीं कर सकता। वे प्राणादि साधन जीव के ही आधीन हैं। वह उनसे इच्छानुसार कार्य करने तथा न करने में स्वतन्त्र है। अपनी शक्ति के अनुसार उनके संशोधन परिवर्धन आदि में भी किंचित् समर्थ है। इसलिए कर्त्ता कहाता है। ईश्वर को तो स्वकार्य करने के लिए किन्हीं साधनों की आवश्यकता नहीं है। उपनिषद् में कहा है—'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते'।

आपने प्राणियों का विशेषण 'सजीव' दिया है जो कि निरर्थक है क्योंकि प्राणी तो सभी सजीव होते हैं। प्राणी निर्जीव हो ही नहीं सकता। अप्राणी सजीव निर्जीव भेद से दो प्रकार के हैं। इसमें प्रमाण—

'ओम् यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव'।

अर्थ—(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले (निमिषतः) अप्राणी रूप जगत् का (महित्वा) अपनी अनन्त महिमा से (एक इद् राजा बभूव) एक ही राजा=सबका प्रकाशक, विराजमान है। (संस्कार विधि सामान्य प्रकरण)

यहां 'प्राणतः' पद 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन् प्राणने' धातु से लट्, उसको 'शतृ' आदेश करने पर षष्ठी विभक्ति के एक वचन का रूप है। जिसका अर्थ 'प्राण वाले' अर्थात् चेतन ऐसा महर्षि दयानन्द ने किया है। प्राण का यहां अभिप्राय अन्तःकरण से है। अन्तःकरण के कार्य—संकल्प विकल्प करना, स्मरण, अभिमान, निश्चय आदि हैं। ये सब ज्ञान के रूपान्तर हैं। इसलिए प्राणी चेतन होने से निर्जीव नहीं हो सकते।

'निमिषतः' पद भी नि उपसर्ग पूर्वक 'मिष् अक्षिसंकोचने' धातु से 'प्राणतः' पद के समान ही बना है। जिसका अर्थ निमेषवाले है। निमेष उन्मेष आंखों के कार्य हैं। कार्य से कारण का भी ग्रहण हुआ करता है। चक्षु (आंख) ज्ञानेन्द्रियों में प्रधान है। प्रधान के ग्रहण में उसके साथी अप्रधान का भी ग्रहण होता है। इसलिए चक्षु ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण (ग्राहक) है। ज्ञानेन्द्रियों का

सम्बन्ध मन अर्थात् अन्तःकरण से है। इस प्रकार 'निमिषतः' का अर्थ हुआ— जो ज्ञानादि कार्यों से रहित अर्थात् जड हैं। जहां 'निमेष' है वहां उससे पूर्व 'उन्मेष भी होना चाहिए, तथा पश्चात् भी उन्मेष होना आवश्यक है। इस प्रकार का अप्राणी (जड) कौन-सा है ? जिसका निमेष उन्मेष होता है। पृथिवी आदि अप्राणी जगत् का तो निमेष उन्मेष होने से रहा, क्योंकि वे तो जीव रहित होने से सर्वथा जड हैं। अतः दूसरा अप्राणी (जड) स्थावर वृक्षादि ही हैं जिसको जीव सहित स्वीकार करना होगा; तभी उनका निमेष उन्मेष सम्भव है।

तथा च (इसी प्रकार) 'निमिषतः' पद को देहली दीपक न्याय से 'प्राणतः' का विशेषण करने पर प्राणियों के भी दो भेद सिद्ध हो जावेंगे। एक चेतन प्राणी मनुष्य, जो ज्ञान विज्ञान (विवेक) सम्पन्न हैं। दूसरे प्राणी पशु पक्षी आदि जङ्गम भी विज्ञान (मनस्विता) का अभाव होने से निमेष वाले कहे जावेंगे। उनका उन्मेष मनुष्य योनि प्राप्त होने पर होता है, जहां उनको मनस्विता प्राप्त होने से धर्म अधर्म का ज्ञान होकर पाप पुण्य का विवेक होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त 'जगतः तस्थुषः' पदों की व्याख्या करते समय महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास में जो प्राणी और अप्राणी जगत् के दो-दो भेद किये थे उसकी प्रामाणिकता वेद से सिद्ध हो जाती है।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि 'तस्थुषः' पद से सर्वत्र केवल जड पदार्थों का ही ग्रहण होता है। अपितु 'तस्थुषः' पद से कहीं २ वेद में मनुष्य का भी ग्रहण होता है। क्योंकि निघण्टु (२-३) में 'तस्थुषः' पद को मनुष्य नामों में पढा है। तदनुसार महर्षि दयानन्द ऋग्वेद १-६-१ में 'तस्थुषः' पद की व्याख्या इस प्रकार करते हैं —"(तस्थुषः) तिष्ठन्तीति तान् सर्वान् स्थावरान् पदार्थान् मनुष्यान् वा"।

जब 'तस्थुषः' पद से मनुष्यों का भी ग्रहण होता है जो कि चेतन हैं तब स्थावर=(वृक्षादि) ग्रहण किया जावे तब वे वृक्षादि भी जीव रहित कैसे हो सकते हैं।

हां सजीव होते हुए भी ज्ञान रहित होने से जड (अप्राणी) कहे जाते हैं।

वेद में पदार्थ आगे पीछे के अन्य पदों से बंधा हुवा और यौगिक ही होता है, जिसको ऋषि ही पूर्ण रूप से जान सकता है।

इसीलिए आर्ष शैली से अनभिज्ञ पण्डितम्मन्य वेदार्थ में पथभ्रष्ट होकर भटक जाते हैं (कहीं के कहीं चले जाते हैं)।

पृ० ३५ पं० १५-२० पर आप लिखते हैं—

"हमारे शरीर और वृक्षों में कुछ सादृश्य अवश्य मिल जाता है, परन्तु ऐसा कुछ सादृश्य तो उन पदार्थों में भी मिल सकता है जिन्हें आप स्वयं जड (जीव रहित) मानते हैं। जैसे रेल का इञ्जन बिना कोयला खाए और पानी पीए नहीं चल सकता। तो क्या आप उसे सजीव मानेंगे ?"

समीक्षा—रेल के इञ्जन आदि के लिये खाने पीने रूप शब्दों का प्रयोग करना अयुक्त है। क्योंकि वह निर्जीव है अर्थात् जीवनशून्य है। खाना पीना रूप कर्म प्राणी ही अंग विशेष से ज्ञानपूर्वक करते हैं। इञ्जन आदि में कोयला पानी आदि पदार्थ ऊपर से भरा जाता है। उनमें कोयला पानी आदि भरने के लिये तथा उनको चलाने के लिए भी उनके साथ चेतन (कर्मचारी ड्राइवर आदि) का होना आवश्यक है। उनके अभाव में इञ्जन आदि में कोयला पानी भरना और उनका संचालन असम्भव है। इसी प्रकार वृक्षादि में भी उनके अन्दर जलीय पार्थिव आदि अंशों को आकर्षित (ग्रहण) करने के लिये जीव की उनके अन्दर स्वस्वामी भाव सम्बन्ध से उपस्थिति आवश्यक है। केवल प्राणों से जीव के स्थान की पूर्ति नहीं हो सकती क्योंकि वे भी जड हैं और करण (साधन=औजार) हैं।

बोरी में दो मन गेहूँ वा चीनी भरने से कोई यह नहीं कहता व समझता कि बोरी दो मन गेहूँ वा चीनी खागई। ऐसे २ युक्त्याभासों से साधारण बुद्धि वाले सज्जनों का मतिविभ्रम पैदा करना कहां तक उचित है, 'इत्येतत् सुधीभिरेव विभावनीयम।'

पुनः उससे आगे २०-२१ पंक्ति पर लिखते हैं—

"क्या केवल वायु एवं जल के आधार पर कोई अन्य प्राणी भी जीवित रह सकता है ?"

समीक्षा—आपका ऐसा कहने से क्या अभिप्राय है ? क्या वृक्षों में जीवन नहीं ? अथवा वायु जल के आधार पर ही जीवन है ? क्या वायु जल के आधार पर जिसमें जीवन हो वह सजीव नहीं ? प्राणी शब्द से आप किन २ का ग्रहण करते हैं ? आपके पूर्वोक्त प्रश्नसूचक वाक्य से उपर्युक्त विप्रतिपत्तियां पैदा होती हैं।

अब आपके पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—

प्रथम तो वृक्ष प्राणी (सज्ञान) नहीं, अप्राणी (ज्ञान रहित) है। उसके अन्दर जीवन केवल वायु व जल के आधार पर नहीं है अपितु पार्थिव अंशों से भी है। जिनको वृक्ष वायु जल विद्युत् के योग से जडों आदि द्वारा भूमि में से ग्रहण करता रहता है। इसीलिये कन्द मूल शाक औषधि फल फूल पत्र शाखा आदि की विशेष वृद्धि के लिये कई प्रकार की खादों का उपयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त जल और वायु में भी सूक्ष्म पार्थिव अंश मिले रहते हैं जिनसे उनका पोषण होता है।

जलीय और वायवीय शरीरवाले जीव जल और वायु के आधार पर जीवित रहते हैं। एवं पत्थर और काष्ठ के मध्य में पाये जानेवाले पार्थिव शरीरी जीवों का शरीर सूक्ष्मवायु आदि के आधार पर बना रहता है, यह प्रत्य है। इसलिये इसमें कोई आपत्ति नहीं कि जल और वायु के आधार पर ही जी (प्राणी) अप्राणी जीवित रह सकें।

पृष्ठ ३७ पर आप लिखते हैं—

"पं०—सबसे पहला प्रश्न तो यह पैदा होगा कि जीव भोक्ता है वा भोज्य ? यदि जीव को भी भोज्य माना जायेगा तो 'जीवो जीवस भोजनम्' का सिद्धान्त उचित ठहरेगा। उस दशा में मनुष्य के लिये कोई भ भक्ष्याभक्ष्य या पाप पुण्य नहीं रहेगा। तब तो हिंसा का और अहिंसा क प्रश्न भी सर्वदा के लिये समाप्त हो जावेगा। इसके अतिरिक्त यदि जीव मा को भोक्ता ही माना जाये और वनस्पति वर्ग को भी सजीव प्राणियों में सम्मि लित किया जावे तो भोक्ता जीवों का भोज्य पदार्थ संसार में क्या माना जावेगा क्योंकि वनस्पतिवर्ग तो सजीव होने से स्वयं ही भोक्ता हो जावेगा। उ अवस्था में यह समस्त जीव क्या पत्थर मिट्टी या धातु आदि ही खाकर निर्वा करेंगे। यह एक बहुत बड़ी समस्या जगत् के सामने पैदा हो जावेगी जिस समाधान असम्भव है।"

समाधान—शब्दशास्त्र के अनुसार जो खाने योग्य वस्तु दान्तों से चबा खाई जाती है उसको भोज्य कहते हैं। जैसे रोटी चावल मोदक आदि। 'भोज्यं भक्ष्ये' (पाणिनीयाष्टके अ० ७-३-६९)। 'खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यम्' पीने योग्य पदार्थ 'पेय' कहे जाते हैं। यथा-दूध इक्षुरस आदि। चूसने योग पदार्थ 'चूस्य' कहाते हैं जैसे आम्रफल, गन्ना आदि। चाटने योग्य चटनी आ अवलेह्य कहे जाते हैं। जीव एक निराकार नित्य पदार्थ (द्रव्य) है वह 'भोज्य' आदि कुछ नहीं हो सकता।

'जीवो जीवस्य भोजनम्' अर्थात् जीव जीव का भोजन है ऐसा शब्दप्रयो करना ही अशुद्ध है। क्योंकि जीव को जीव खा नहीं सकता। एक प्राणी दूसरे प्राणी को पीडा पहुँचा सकता है तथा प्राणी दूसरे प्राणी के देह को छिन्न भिन्न व भक्षण भी कर सकता है।

वनस्पति आदि में जीव मानने मात्र से वा उनका यथायोग्य सेवन करने

से भक्ष्याभक्ष्य सिद्धान्त पर कोई आँच नहीं आती। पाप की वृद्धि भी नहीं होगी और पुण्य का नाश भी नहीं होगा। क्योंकि उनके यथायोग्य सेवन में शास्त्र का प्रमाण होने से अधर्म नहीं होता।

'धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' धर्म और अधर्म के ज्ञान के लिये वेद ही परम प्रमाण है। जो नास्तिक आदि वेद को प्रमाण नहीं मानते उनके लिये तो आपका यह जीव अजीव का पचडा भी कोई अर्थ नहीं रखता। उनके लिये तो वृक्ष औषधि आदि के समान बकरे मैंढे गवादि पशु भी सब भक्षणीय हैं। वे ऐसा करने में कोई पाप नहीं समझते।

वृक्षों में जीव स्वीकार करने पर भी हिंसा अहिंसा का प्रश्न तो सदा उपस्थित रहेगा।

आप गौ भैंस बकरी आदि का दूध पीते हैं, भेड आदि की ऊन, पशुओं के चर्म, अस्थि आदि का उपयोग करते हैं। अपने लाभ के लिये उनको बन्धन में डालते हैं, गाडी तांगा आदि में जोतते हैं। आपके मन्तव्यानुसार तो इन सब कर्मों से होनेवाली बुराइयों से बचने का सरलतम उपाय यह है कि पशु आदि में जीव का ही निषेध कर दिया जावे, जैसा कि पूर्वकाल में ईसाई यहूदी आदि जगत् मानता था। जिस प्रकार पूर्वोक्त वस्तुओं के उचित रीति से ग्रहण व उपयोग में पाप नहीं होता उसी प्रकार वनस्पति आदि के भी आयुर्वेदशास्त्र व धर्मशास्त्रानुसार अन्न फल मूल पत्र पुष्प आदि के सेवन आदि में पाप व हिंसा नहीं होती है।

पहले बताया जाचुका है कि दो प्रकार का जड जगत् है एक स्थावर वृक्षादि। दूसरा पृथिवी आदि परमाणु पर्यन्त। उसमें वृक्षादि स्थावर जगत् का विशेष रूप से पृथिवी आदि जड जगत् द्वारा पालन पोषण और सम्वर्धन होता है। वृक्षादि स्थावर जगत् से तथा पृथिवी आदि से पशु आदि जंगम जगत् का पालन पोषण और संरक्षण होता है।

तीनों प्रकार के जगत् से अर्थात् पृथिवी आदि जड, वृक्षादि स्थावर और पशु आदि जंगम जगत् से मनुष्यों का पालन पोषण और संरक्षण होता है।

जब वृक्षादि अप्राणी अर्थात् जड (ज्ञान रहित) हैं तो उनके छेदन भेदन आदि से उनको पीडा पहुंच कर हिंसा किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ?

प्राणी जगत् के दो भेद हैं एक मनुष्य दूसरे पशु आदि तिर्यग् योनियां। इनमें पशु आदि का भोजन (खाद्य वस्तु) निश्चित है। उनको अपने खाद्य अखाद्य का ईश्वर प्रदत्त सहज (योनिज) ज्ञान है। उसको तो चिन्ता आपको और हमको करने की आवश्यकता नहीं है। शेष मनुष्यों के लिये ही भक्ष्य

अभक्ष्य, धर्म अधर्म का विचार करना आवश्यक है।

मनुष्यों को क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य है इसके संक्षेप में सम्यग् परिज्ञान के लिए सत्यार्थप्रकाश का दशम समुल्लास पठनीय है। उससे सबको ज्ञान हो सकता है।

इस विषय में प्रमाण—

महर्षिदयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सृष्टिप्रकरण पुरुष सूक्त, चतुर्थमन्त्र के प्राकृतभाषार्थ में लिखते हैं--

"यह नाना प्रकार का जगत् उसी ईश्वर के सामर्थ्य (प्रकृति) से उत्पन्न हुआ है। (साशनानशन०) दो प्रकार का जगत् है—एक चेतन जो कि भोजन आदि के लिये चेष्टा करता और जीवसंयुक्त है, और दूसरा अनशन = अर्थात् जो जड (है) और भोजन के लिए बना है क्योंकि उसमें ज्ञान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता।"

यहां पर भोजन आदि के लिये चेष्टा करनेवाला अर्थात् 'भोक्ता' चेतन को बताया गया है। चेतन से यहां मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणी मात्र का ग्रहण करना चाहिये।

'अनशन' पद से भोगरहित स्थावर वृक्षादि का ग्रहण अभिप्रेत है। क्योंकि वृक्षादि में स्वामी जी महाराज ज्ञान आदि गुण नहीं मानते, जीव तो मानते हैं (स्वीकार करते हैं)। यह बात यहीं पर पठित 'ही' शब्द से ध्वनित होती है। क्योंकि जो जड भोजन के लिये बना है उसमें ज्ञान ही केवल नहीं है वह जीवसंयुक्त तो है, ऐसा पूर्वोक्त वाक्य से संगति करने पर भाव निकलता है।

उपर्युक्त मन्त्रार्थ के संदर्भ से यह भी स्पष्ट है कि स्वामी जी महाराज वृक्षादि में चेष्टा तो स्वीकार करते हैं परन्तु वे बाह्यज्ञानरहित होने से स्वयं चेष्टित नहीं, किसी अन्य से चेष्टित हैं। चेष्टा जीव का कर्म है इसलिये स्वामी जी के लेखानुसार वृक्षादि को सजीव मानना उचित है। पूर्वोक्त मन्त्रार्थ से वृक्षादि स्थावर 'उपभोग्य' श्रेणी में गणनीय हैं 'उपभोक्ता श्रेणी में नहीं।

पृष्ठ ३८ पर आप लिखते हैं—

"पण्डित—परन्तु जब आप उनमें जीव मानते हैं तो फिर उनमें सुख दुःख की अनुभूति को क्यों नहीं मानते ? प्रश्न तो यह है।"

उत्तर—वृक्षादि स्थावरस्थ जीव तमोगुण से आवृत होने के कारण महा अन्धकार (अज्ञान) में लीन, कारण शरीर में स्थिति के कारण महासुषुप्ति

अवस्था और महानशा जैसी स्थिति में वर्तमान रहते हैं इसलिये उनको बाह्य सुख दुःख का भान नहीं होता। सुख दुःख आदि की प्रतीति उन्हीं जीवों को होती है जिनको मनोवृत्ति बाह्य अवयवों के साथ विद्यमान होती है। इसमें प्रमाण—

"पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः" (सांख्य ५-२७)

अर्थ—जब पांचों ज्ञानेन्द्रियों का अपने २ विषय के साथ सम्बन्ध होता है तभी अन्तःकरण के द्वारा तत्तत् (उन उन) विषयों की प्रतीति और तज्जन्य सुख वा दुःख की उपलब्धि जीव को होती है।

जिस प्रकार अन्धा मनुष्य रूपदर्शनजन्य सुख दुःख से वञ्चित रहता है। बधिर जन उत्तमोत्तम गीत श्रवण से होनेवाले सुख और कठोर भाषण व गाली श्रवण आदि से होनेवाले मानसिक कष्ट से रहित होता है। विकृत घ्राण वाले को नाना पदार्थों की सुगन्ध और दुर्गन्ध ग्रहण से होनेवाला मानसिक आह्लाद वा ग्लानि नहीं होती। रस ज्ञान रहित रसना (जिह्वा) वाले को स्वाद जन्य सुख दुःख नहीं होता तथा स्पर्श ज्ञान शून्य प्राणी को अनुकूल प्रतिकूल वा कोमल कठोर स्पर्शों से सुख दुःख का अनुभव नहीं होता है। इसी प्रकार स्थावर शरीरवाले जीवों की भी व्यवस्था है।

स्थावर शरीरों में ज्ञानेन्द्रियों के गोलक (अवयव) ईश्वर ने नहीं बनाये, क्योंकि उन जीवों को उनके कर्मानुसार उत्पत्ति से लेकर मरण पर्यन्त (स्थिति पर्यन्त) महासुषुप्ति अवस्था में ही रखना अभीष्ट था। इसलिये इन्द्रियों के गोलक बनाना निरर्थक होता।

हम भी आपसे प्रश्न करते हैं कि जब आप वा अन्य प्राणी सुषुप्ति अवस्था में होते हैं तब आपको व अन्य प्राणियों को लौकिक (बाह्य) ज्ञान और सुख दुःख का अनुभव क्यों नहीं होता ? जब कि आप सबका आत्मा शरीर में ही स्वामी रूप से विद्यमान रहता है।

पृष्ठ ३९ पं० ६-१२ पर लिखते हैं—

"ध्यान रक्खें—संसार में किसी भी क्रिया का रूप स्वयं न पाप होता है और न पुण्य ही। अपितु उस क्रिया के करने की नीयत ही उसे पाप पुण्य बना देती है।"

समीक्षा—यह कथन सर्वांग में सत्य नहीं। वेदविरोधी निषिद्ध कर्मों का करना सर्वथा पापजनक है। वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान न करना भी

सब प्रकार से पाप का ही हेतु है। नेक नीयत के साथ कर्म का औचित्य भी आवश्यक है। कर्म के अनुचित (शास्त्र विरुद्ध) होने पर एकाकी नेक नीयत से काम नहीं चलता।

उदाहरण के लिये हमारी वर्तमान भारतीय कांग्रेस सरकार अन्न की समस्या के समाधान के लिये मांस मछली अण्डे आदि अभक्ष्य पदार्थों के प्रचार को प्रोत्साहन देती है तथा उसके लिये लाखों रुपये व्यय कर रही है।

जनसंख्या के ह्रास (वृद्धि रोकने) के लिये गर्भ निरोधार्थ कृत्रिम साधनों का प्रसार करवा रही है। इसके लिये बहुत से मनुष्य गर्भपात जैसे महापातक कर्म को भी कानून सम्मत करवाना चाहते हैं। धन की प्राप्ति के लिये शराब की बिक्री व निर्माण पर प्रतिबन्ध न करके इसका हृदय से प्रसार चाहते हैं। गोमांस विक्रय का सौदा विदेशों से कर रक्खा है। इत्यादि अनेक कर्मों में हम सरकार की नियत पर सन्देह न करते हुवे भी उसके उक्त कर्मों को अनुचित (पाप कर्म) ही समझते हैं। वेदविरोधी मत मतान्तरों के सभी प्रचारकों के इरादे को हम गलत नहीं कह सकते, किन्तु नीयत शुभ होते हुवे भी उनके सभी कर्मों व मन्तव्यों को उचित नहीं स्वीकार किया जा सकता। कभी २ शुभ नीयत न होते हुवे भी किसी से कोई अच्छा कर्म बन जाता है तो उसका परिणाम भी अच्छा ही निकल आता है। जैसे ईसाइयों द्वारा किये गये प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य को अभिवृद्धि आदि।

पृष्ठ ३६ पं० १६, १७ पर लिखते हैं—

"हिंसा किसी भी साभिमानी जीव को उसके शरीर से नीयतन पृथक् करने का नाम है।"

समीक्षा—हिंसा की यह परिभाषा वा स्वरूप निर्देश आपका अपनी बुद्धि से परिकल्पित है। इसमें किसी शास्त्र का वा आप्त पुरुष का प्रमाण नहीं है। इसलिये अमान्य है।

किञ्च आपके पूर्वोक्त लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष भी हैं। तद्यथा-आततायी मनुष्य को शरीर से वियुक्त करने में शास्त्रानुसार कोई पाप नहीं होता। इसी प्रकार सिंह आदि हिंस्र प्राणी गवादि उपयोगी पशुओं और मनुष्यों को हानि पहुंचाने लगें तो उनको मारना हिंसा में परिगणित नहीं है एवं बिना इरादे के भी किसी से अज्ञान व प्रमाद से ब्रह्महत्या आदि निन्द्यकर्म हो जावे तो वह हिंसा में ही परिगणित (शुमार) होगा अहिंसा में नहीं।

अब मैं आप (लेखक) और पाठकों के सम्मुख हिंसा अहिंसा के सम्बन्ध में

महर्षि दयानन्द जी महाराज के विचार प्रस्तुत करता हूँ।

स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र ही अहिंसा का मुख्य अर्थ "वैर त्याग" किया है और हिंसा का अर्थ "वैर करना" किया है। उदाहरण के लिये कुछ स्थल प्रस्तुत करता हूँ। स्वाध्यायशील जन उनको देख सकते हैं। सत्यार्थ० तृतीय समुल्लास में—"तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" इस सूत्र के अर्थनिर्देश में (अहिंसा) "वैर त्याग"। स०प्र० ७म स० में भी पूर्वोक्त सूत्रार्थ निर्देश करते हुवे लिखा है—"जो उपासना आरम्भ करना चाहे··· ···वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा सबसे प्रीति करे।" स० प्र० ४र्थ स०—हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः" प्राणियों का घातक, अन्य से वैर बुद्धि रखनेवाला।"

पञ्चम समुल्लास में—संन्यासी के कर्त्तव्य निर्देश करते हुवे मनुस्मृति के श्लोकार्थों में ५ म व १२ वें श्लोक के 'अहिंसया' पद का अर्थ—'सब भूतों में निर्वैर (ता से)' किया है।

संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में—"हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते" इस श्लोक के अर्थनिर्देश में लिखा है—'जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है।' तथा आगे चलकर संस्कारविधि के उसी प्रकरण में धर्म के दश लक्षणों का निर्देश करते हुए लिखा है—"(अहिंसा) किसी से वैर बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्तना।" एवं संस्कारविधि सन्यास प्रकरण में मनुस्मृति के ११वें तथा १६वें श्लोकों में पठित 'अहिंसया' पद का अर्थ—"निर्वैरता से" व "जो निर्वैर···संन्यासी लोग होते हैं" यह किया है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में भी पांच यमों के अर्थ निर्देश करते हुए लिखा है—"(अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ कर प्रेम प्रीति से वर्त्तना।"

तथा—'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' इस योग शास्त्र के सूत्र का अर्थ यह किया है—

"अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय (स्थिर) हो जाता है तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है। किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैर भाव छूट जाता है।

अन्य स्थलों पर भी अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध में जो विचार स्वामी जी महाराज ने प्रकट किये हैं उनको अपने शब्दों में पाठकों के आगे प्रस्तुत करता हूँ। प्राणियों को अकारण वा स्वार्थवश पीड़ा पहुंचाना वा उनको प्राणों से वियुक्त कर देना हिंसा है।

घातक प्राणियों से आपत्तिग्रस्त निर्बल, असहाय प्राणियों की उपलब्ध साधनों से जिस किसी प्रकार भी रक्षा करना अहिंसा है।

निरर्थक व्रत उपवास आदि द्वारा शरीर को हानि पहुँचा कर अपने आत्मा को क्लेशयुक्त करना हिंसा है। यथा जैन यति जो अपने और अपने शिष्यों के केशलुञ्चन करते कराते हैं, यह अपने पराये आत्मा को व्यर्थ क्लेश देना है।

पुत्र शिष्य आदि को हितबुद्धि से यथोचित ताडना आदि व्यवहार अहिंसा, तथा ईर्ष्या द्वेष पक्षपात वैरभाव आदि से ताडना आदि हिंसा है।

जितना चोरी जारी छल कपट मिथ्या व्यवहार आदि द्वारा पर द्रव्य हरण करना व उनको शारीरिक व मानसिक पीड़ा पहुंचाना है वह सब हिंसा है।

अपराधी को यथोचित दण्ड न देना तथा निरपराध को दण्ड देना अहिंसा है।

निष्प्रयोजन वा क्रोध के वशीभूत होकर कठोर भाषण, गालिप्रदान, अशिष्ट भाषण आदि कर्म हिंसा हैं।

किसी विधवा वा विधुर को किसी जाति नियम वा राजनियम से उनकी इच्छा के विरुद्ध नियोगादि द्वारा सन्तानोत्पत्ति की अनुमति न देकर उनकी आत्मा को संतप्त करना हिंसा है। इत्यादि।

यदि जैन बौद्धों के मत के अनुसार किसी भी प्राणी को सर्वथा सर्वदा किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचाना सब मनुष्यों के लिये धर्म मान लिया जावे तो फिर चक्रवर्ती राज्य आदि की स्थापना उसकी रक्षा और अवैदिक मत मतान्तरों का विध्वंस आदि कर्म तो हो ही नहीं सकते।

महाभारत के युद्धक्षेत्र में अर्जुन अपने प्रतिपक्ष में खड़े माननीय गुरुजनों सम्बन्धियों और स्वबन्धुजनों को देखकर भगवान् कृष्ण से कहता है। हे कृष्ण! हम अपने स्वजनों की हत्या की अपेक्षा भिक्षा मांगकर निर्वाह कर लेना अपने लिये श्रेयस्कर समझते हैं। अर्जुन का ऐसा कथन आजकल की विचारधारा में हम आर्यों को भी अनुचित प्रतीत नहीं होता, किन्तु योगीराज श्रीकृष्ण अर्जुन के इस विचार को अनार्यजुष्ट और अकीर्तिकर समझते हैं।

पाप पुण्य धर्म अधर्म क्या है? इसके परिज्ञान के लिये मनु आदि आप्त पुरुषों ने कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (मनु०)

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ (मनु०)
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। (मनु०)
न वेदबाह्यो धर्मः। (चाणक्यसूत्र)

इसलिये वेद तथा वेदानुकूल स्मृति के प्रमाण से तथा आप्त पुरुषों के व्यवहार से भी जौ गेहूँ चना मूंग आदि ओषधिवर्ग तथा अन्य फूल मूल फल शाक वृक्ष आदि के विधिपूर्वक आरोपण, सम्वर्धन, छेदन भेदन भक्षण आदि में किसी प्रकार की हिंसा मानना व पापकल्पना करना अवैदिक है। क्योंकि वृक्षादि में जीव है इसलिये उनको भी उनके छेदन भेदन आदि से हमारी तरह ही दुःख होगा, ऐसी मान्यता जैन आदि अवैदिक मतों की है। ऋषि तो उनको सजीव मानते हुवे भी उनको जड (ज्ञानादि गुण रहित) ही मानते हैं।

यतः वृक्षादिकों में नैमित्तिक ज्ञान न होने से उनके जीवों को प्राण के योग-वियोग का बोध नहीं है, अतः वियोगजन्य भाव का ज्ञान भी नहीं है। फिर दुःख हो ही नहीं सकता।

माननीय पण्डित जी आप हिंसा अहिंसा के सम्बन्ध में इस सजीव और निर्जीव के पचडे को त्यागकर प्राणी अप्राणी शब्दों को लेकर विचार करें। जैसा कि मनु आदि धर्मशास्त्रकारों का लेख है। यथा—"प्राणिनां चैव हिंसनम्" "न च प्राणि-वधः स्वर्ग्यः" "अहिंसयैव भूतानाम्" इत्यादि।

जीवहिंसा, जीवों का मारना, जीवों की उत्पत्ति, विनाश आदि शब्द प्रयोग विधि को त्यागकर प्राणि-हिंसा, प्राणों का वियोग इत्यादि ऋषियों से प्रयुक्त शब्दों का व्यवहार कीजिये। क्योंकि मारना, वध करना, पीड़ा पहुँचाना, दुःख देना आदि कर्मों का सम्बन्ध प्राणियों से है।

मेरी समझ से आपको इस 'सजीव प्राणी और निर्जीव प्राणी' के झमेले ने गड़बड़ में डाल दिया है।

यदि आप आर्ष पद्धति से विचार करते तो ठीक निर्णय पर पहुंचते। जब मनुष्य मूल में ही भूल कर जाता है तब आगे सुधार की सम्भावना नहीं रहती। सुधार के लिये जहाँ से बिगाड़ आरम्भ हुवा हो वहीं से पुनः सुधार आरम्भ किया जावे तभी सुधार हो सकता है।

पृष्ठ ४० पंक्ति ३-४-५ में आप लिखते हैं—

"इसमें कुछ तो वस्तुतः सजीव कृमि होते हैं जो वीर्य तथा रक्त आदि में मिलते हैं। इसीलिये वीर्य आदि पदार्थ अभक्ष्य ही माने जाते हैं।"

समीक्षा—आपका पूर्वोक्त कथन अयुक्त है। यदि खुर्दबीन से दीखनेवाले सूक्ष्म कृमियों के कारण हो वीर्य रुधिर मांस आदि पदार्थ अभक्ष्य हैं तो वे तथा-कथित कृमि औषधि वनस्पतियों के फल, रस गूदा, कन्द मूल शाक आदि में भी विद्यमान रहते हैं। इस दृष्टि से वे भी अभक्ष्य होने चाहियें। इसलिये वीर्य रक्त आदि के अभक्ष्य होने में अन्य ही कारण हैं जो कि धर्मशास्त्र और वैद्यक शास्त्र में बतलाये गये हैं। उनके यहां लिखने की आवश्यकता नहीं। जिज्ञासु जन वहीं से उनको जान सकते हैं।

पृ० ४० पं० २२ तथा उससे आगे भी आप लिखते हैं—

"पण्डित—श्रीमन् ! अण्डे की स्थिति न कबूतर के समान है और न वृक्षों के समान।

जिज्ञासु—जरा इसे स्पष्ट कीजिये।

पण्डित—भाई ! वह वृक्ष के समान तो इसलिये नहीं कि वह सजीव होता है। नहीं तो उससे इच्छादि गुणोंवाला कबूतर न निकल सकता। और कबूतर के समान इसलिए नहीं होता कि वह वस्तुतः उत्पन्न कोई जीव नहीं है। अपितु गर्भ का ही एक रूप है।"

समीक्षा—जब अण्डे में वृक्षों के समान प्राणादि से वृद्धि और पोषण हो रहा है और उनके समान इच्छादि गुण भी प्रत्यक्ष नहीं होते तब वृक्षादि के समान उसकी स्थिति क्यों न स्वीकार की जावे ?

आप कहते हैं वृक्षों में जीव नहीं है और अण्डे में है, इसलिये। परन्तु यह तो अभी साध्य कोटि में है अर्थात् वृक्षों की निर्जीवता और अण्डों की सजीवता दोनों अभी (विचार करते समय) साध्यकोटि में ही हैं।

हमारे आपसे प्रश्न हैं १.—क्या जीव के बिना, केवल प्राणों द्वारा ईश्वर के निमित्त से अण्डे का पोषण हो सकता है ? यदि नहीं। तो फिर वृक्ष में ही क्यों ऐसा मानते हो।

२.—यदि अण्डा जीव के स्वामित्व बिना प्राणों द्वारा ईश्वर के निमित्त से भी वृद्धि नहीं कर सकता तो वृक्ष जीव के स्वामित्व बिना कैसे वृद्धि कर लेगा।

३.—यदि वृक्ष का जीव के स्वामित्व बिना भी प्राणों द्वारा ईश्वर के निमित्त से पोषण हो सकता है तो अण्डे का पोषण जीव बिना क्यों नहीं हो सकता।

४.—आप अण्डे में जीव इसलिये स्वीकार करते हैं कि उसमें से इच्छादि गुणोंवाला कबूतर का शरीर निकल आता है। जिस अण्डे से प्राणी शरीर न निकले उसको कैसा मानेंगे ?

५.—आप अण्डे में से पश्चात् काल में कबूतर निकलने से ही उसको सजीव मानते हैं। परन्तु कबूतर निकलने से पूर्व अवस्था में उसमें जीव के होने तथा न होने का ज्ञान कैसे किया जावे।

अण्डे में से जीव निकल गया वा उसमें जीव अभी है इसकी क्या पहचान है ?

हम देखते हैं कि जब किसी कारण से अण्डे में जीव नहीं रहता तब पक्षी अण्डे का 'सेना' (उस पर बैठना) त्याग देते हैं। उनको ज्ञान हो जाता है कि इससे अब बच्चा उत्पन्न नहीं होगा।

सजीव अण्डा पक्षियों के स्पर्श द्वारा पोषण प्राप्त करता है। निर्जीव होने पर वह पोषण प्राप्त नहीं कर सकता। यह सहज (ईश्वर प्रदत्त) ज्ञान पक्षियों को है। मनुष्य जिस प्रकार श्वास प्रश्वास आदि से अपनी सन्तान के जीवित वा मृतक होने का ज्ञान करते हैं उसी प्रकार पक्षी स्पर्श विशेष आदि से उसके जीवित वा मृतक होने का ज्ञान कर लेते हैं। आप अण्डे को गर्भ रूप वा गर्भ किसलिये कहते हैं ? क्या पक्षि-गर्भ से निकलने के कारण ? तो क्या मातृ-गर्भ से निकले शिशु आदि को भी ऐसा कह सकते हैं ? गर्भस्थ शिशु, गर्भस्थ अण्डा ऐसे प्रयोग तो संगत हैं। परन्तु अण्डा गर्भ है वा गर्भरूप है ऐसा प्रयोग करना संगत प्रतीत नहीं होता। जिस किसी प्रकार लक्षण आदि का आश्रय लेकर कभी प्रयोग कर भी दिया जावे तो भी अण्डे की गर्भ संज्ञा नहीं है।

पृष्ठ ४१ पंक्ति ४ से १० तक लिखा है—

"जब तक कबूतर का शरीर बाहिर भोजनादि की प्रवृत्ति और इच्छादि को प्रकट नहीं कर लेता तब तक उसे अण्डा ही कहा जाता है, कबूतर नहीं। और यह बात स्पष्ट है कि पक्षी या कबूतर तो एक जीव की योनि मानी जा सकती है। परन्तु अण्डा कोई योनि नहीं है। अतः आपका यह प्रश्न व्यर्थ है।

समीक्षा—अण्डा क्या है ? जिस प्रकार मनुष्य शरीर की मातृ-गर्भ में कलल, बुदबुद आदि अनेक अवस्थाएं होती हैं उसी प्रकार अण्डा भी कबूतर आदि पक्षी शरीर की एक अवस्था विशेष ही है।

उसमें (अण्डे में) इच्छादि गुण नहीं हैं परन्तु जीव है इसलिये जिज्ञासु का

यह प्रश्न कि 'आप अण्डे को सजीव मानते हैं वा निर्जीव' व्यर्थ नहीं है, सार्थक है। जब आप इच्छादि गुणों के अभाव होने पर भी अण्डे को सजीव मान सकते हैं तो वृक्षादि के सजीव होने वा स्वीकार करने में क्या आपत्ति है। इसका उत्तर आपने नहीं दिया।

आगे चलकर आपने अण्डा खाने में हिंसा होने से पाप माना है। परन्तु जब अण्डास्थित जीव में नैमित्तिक ज्ञान ही नहीं है तो पीडा का अनुभव किस को हुआ? जिस से हिंसा मानी जावे। जिन पक्षियों के वे अण्डे हैं उनको ऐसा (अण्डा खाना आदि) करने से पीडा पहुँचती है। इस प्रकार से तो हिंसा मानी जासकती है।

पृष्ठ ४१ पं० १७, १८, १९ में लिखते हैं—

"अतः उस पिण्ड तत्त्व से उस जीव को पृथक् करना भी हिंसा में ही माना जाता है। अतः अण्डे का खाना पाप है।

समीक्षा—जिस अण्डे आदि पिण्ड से जीव किसी अन्य कारण से पृथक् होगया है उसके खाने में हिंसा तो नहीं मान सकते परन्तु क्या हिंसा न होने से पाप भी नहीं मानना चाहिये? आपके लेख से तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिस कर्म में हिंसा होती है उसी में पाप है जिस में हिंसा नहीं होती वहां पाप नहीं है। परन्तु भक्ष्याभक्ष्य विवेचन में तो हिंसा के साथ अन्य कारण भी विवेचनीय होते हैं।

अब मैं अण्डे और वृक्षादि में जीव है, इसकी सिद्धि के लिये अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ—

वृक्ष सजीव है, प्राणादिमान् होने से, जो २ प्राणादिमान् है वह २ सजीव है (अन्वय व्याप्ति) जैसे मनुष्य। वृक्ष भी मनुष्य जैसे प्राण आदि वाला है, इसलिये सजीव है।

व्यतिरेक व्याप्ति—जहां २ जीव नहीं है वहां २ प्राण आदि भी नहीं हैं, जैसे पत्थर। वृक्ष प्राणादि से रहित नहीं है, इसलिये जीव रहित भी नहीं है अर्थात् सजीव है।

आपके मन्तव्यानुसार व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—

जहां २ इच्छादि गुण (इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान) हैं वहां २ जीव है। अन्वय व्याप्ति।

व्यतिरेक व्याप्ति—आप यह बनाते हैं—

जहां २ इच्छादि गुण नहीं हैं वहां २ जीव भी नहीं है; परन्तु इसमें दोष आता है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में सब प्राणी इच्छादि रहित होते हैं तथा अण्डे

आदि में भी जीव होता है परन्तु इच्छादि गुण नहीं होते। इसलिये आपकी व्यतिरेक व्याप्ति अशुद्ध है। नियमानुसार तो आपको व्यतिरेक व्याप्ति इस प्रकार बनानी चाहिये—

जहां २ जीव नहीं है वहां २ इच्छादि गुण भी नहीं है। जैसे पत्थर।

माननीय पण्डित महोदय! आपको ज्ञात होना चाहिये कि जिस प्रकार गुण जीव के लिङ्ग हैं उसी प्रकार कर्म विशेष भी जीव के लिङ्ग होते हैं।

आप कह सकते हैं न्याय शास्त्रकार गौतम जी ने वे क्यों नहीं गिनाये? ठीक है उन्होंने तो नहीं गिनाये परन्तु कणाद जी ने तो वैशेषिक दर्शन में गिनाये हैं। आप कहेंगे दोनों के कथन में विरोध हो गया। हम कहते हैं विरोध नहीं है। किस प्रकार? सो सुनिये—

ऋषिजन उत्तम न्यायाधीश के समान होते हैं। वे अपने-अपने अधिकार क्षेत्र (प्रतिपाद्य विषय) तक ही सीमित रहा करते हैं। न्यून वा अधिक का प्रतिपादन नहीं किया करते। न्यायशास्त्र का अधिकार क्षेत्र (प्रतिपाद्य विषय) प्रमाणों द्वारा पदार्थ की परीक्षा (जांच पड़ताल) करना है। उसके लिये न्यायशास्त्र को प्रमाता के लिए जिन २ गुणों वा इन्द्रियों की आवश्यकता थी तत्तत् का निर्देश कर दिया। उनको कर्म, कर्मेन्द्रियों तथा जीव के शेष गुणों के प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं थी, इसलिये उनका निर्देश नहीं किया। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि आत्मा के शेष अपरिगणित गुण व कर्म आदि जीव में नहीं हैं अथवा उसके बोधक नहीं हैं।

जैसे धर्म, अधर्म, संस्कार ये भी आत्मा के गुण होने से आत्मा के लिङ्ग अर्थात् बोधक हैं।

वृक्षादि स्थावरों में भी धर्माधर्म से जनित प्रयत्न विशेष द्वारा प्राण आदि की क्रियायें होरही हैं, इसलिये उनमें भी जीवात्मा स्वीकार करना चाहिये।

जंगम पशु पक्षी आदि प्राणियों के समान वृक्षादि स्थावरों में भी भिन्न २ योनियां हैं। जिनमें कर्मानुसार जीव गति करता है।

निष्प्रयोजन तथा निषिद्ध रीति से प्राणियों को पीडा देने तथा मांस आदि की प्राप्ति के लिये प्राणियों के वध करने में हिंसा और पाप दोनों हैं।

मृतक प्राणी का मांस भी अभक्ष्य है अतः उसके खाने में हिंसा दोष न होते हुए भी पाप है।

वृक्षादि के छेदन भेदन आदि से उनको दुःख की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उनमें ज्ञान ही नहीं है; अतः हिंसा नहीं होती। किन्तु उपयोगी आम्र आदि

के काटने तथा हानिकारक कण्टीले झाड़ आदि के न काटने में प्राणियों का अहित होने से पाप है।

निषिद्ध, हानिकारक जड़ पदार्थों के खाने खिलाने से उनको पीड़ा न होने पर भी पाप हो सकता है। क्योंकि धर्म अधर्म का सम्बन्ध हिंसा (प्राणियों को पीड़ा देने) अहिंसा (पीड़ा न देने) से नहीं है उनका सम्बन्ध तो विधि निषेध वा संसार के उपकार अनुपकार से है।

जिस कर्म से संसार का उपकार होता है वह धर्म है। जिस कर्म से संसार का अहित होता है वह अधर्म है। अपनो पुस्तक में आप यत्र तत्र लिखते हैं–

१-जहां जीव है वहां इच्छादि गुण हैं।

२-जहां २ इच्छादि गुण नहीं हैं वहां जीव भी नहीं है। परन्तु इस अण्डे के दृष्टान्त से आपके पूर्वोक्त दोनों नियम खण्डित हो जाते हैं।

जैसे अण्डे में जीव है परन्तु इच्छादि गुणों का अभाव है। अण्डे में इच्छादि गुणों का अभाव है परन्तु जीव का भाव है।

तीसरे दिन के संवाद की समीक्षा समाप्त हुई।

चतुर्थ दिन के सम्वाद की समीक्षा

श्री जगदीशचन्द्र वसु विषयक

महाशय जगदीशचन्द्र वसु विज्ञानाचार्य का जन्म सन् १८५८ इस्वी में बंगाल प्रान्त के मैमनसिंह मण्डलान्तर्गत विक्रमपुर ग्राम में हुआ था। उनकी मृत्यु सन् १९३७ में हुई थी। वे एक मेधावी, परिश्रमी, स्वाभिमानी और निरामिषभोजी व्यक्ति थे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम की पाठशाला में हुई। पश्चात् कलकत्ता के सेप्टजेवियर कालेज से उन्होंने बी०ए० को उपाधि प्राप्त की। उसके बाद उनके पूज्य पिता ने उनको विज्ञान की विशेष शिक्षा के लिये इङ्गलेंड जाने की अनुमति प्रदान कर दी। कैम्ब्रिज और लन्दन में रह कर उन्होंने प्राकृतिक विज्ञान का विशेष अध्ययन किया। वहां रेले प्रभृति मनीषियों से उनको अनुसन्धान करने की विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई।

सन् १९०३ के पश्चात् उनकी रुचि वनस्पति विज्ञान में विशेष रूप से हो गई। उन्होंने अपनी प्रयोगशाला में एक यन्त्र (उपकरण) का आविष्कार (ईजाद) किया। जिनके द्वारा प्रत्येक भौतिक वस्तु अपनी वास्तविक आकृति से लाखों गुणा बड़ी दृष्टिगोचर होती थी। जिसकी सहायता से अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों की भी क्रियायें आंख से देखी जा सकती थीं।

जिस काल में महाशय जगदीशचन्द्र जी ने भारत में इस यन्त्र का आविष्कार किया। उसके द्वारा भी कोई उसी काल में इटली (यूरोपीय) देशवासी एक वैज्ञानिक ने भी इसी प्रकार के यन्त्र का आविष्कार किया था। उसके द्वारा भी कोई पदार्थ अपने स्वरूप से हजारों गुणा बड़ा दिखाई देता था। सार्वदेशिक विज्ञान परिषद् में दोनों ने अपने २ आविष्कार प्रतुत किये। जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इस आविष्कार का 'उपज्ञ' अर्थात् प्रथम आविष्कर्त्ता इन दोनों में से किस को घोषित किया जावे, तब इटली निवासी वैज्ञानिक विद्वान् को ही इस यन्त्र का 'उपज्ञ' घोपित किया गया।

हो सकता है निर्णायकों के पास इटालियन वैज्ञानिक को 'उपज्ञ' घोषित करने का कोई विशिष्ट हेतु हो। परन्तु मैं अपनी समझ से ऐसा समझता हूँ कि इस निर्णय में महाशय जगदीशचन्द्र वसु के साथ भारतीय होने के कारण न्याय नहीं हुआ। यदि वे किसी स्वतन्त्र यूरोपीय देश के निवासी होते तो वहां की सरकार व प्रजा ऐसा अन्याय सहन न करती। क्योंकि उस समय

भारत एक पराधीन देश था। तात्कालिक भारत की अंग्रेजी सरकार को हमारी प्रतिष्ठा का इतना ध्यान नहीं था जितना यूरोप की प्रतिष्ठा का। इसलिये भारत माता के एक सुपुत्र को अपने अधिकार से वञ्चित होना पड़ा। अस्तु। इससे उनकी वैज्ञानिक योग्यता और प्रतिष्ठा की पात्रता में कोई अन्तर नहीं आता।

इनकी वैज्ञानिक योग्यता के कारण एशिया तथा भारत का मस्तक ऊंचा हुआ है।

महाशय जगदीशचन्द्र वसु जी ने जो यन्त्र (उपकरण) आविष्कृत किया है वह जीव को आंखों से नहीं दिखाता तथा इसी प्रकार का अन्य कोई भी यन्त्र-विशेष जीव को नहीं दिखा सकता क्योंकि जीव एक निराकार चेतन सत्ता है वह इन्द्रियों का विषय (ग्राह्य) नहीं हो सकता क्योंकि उसमें रूप आदि गुण नहीं हैं जिससे इन्द्रियां उसको ग्रहण कर सकें।

उन्होंने जो आविष्कार किया है वह तो यह सिद्ध करता है कि मनुष्य आदिक प्राणी शरीरों में प्राणादि द्वारा जैसो क्रियाएं हो रही हैं उसी प्रकार की क्रियाएं स्थावर देहों में भी हो रहा हैं।

इस प्रकार उन्होंने तो क्रिया साम्य मात्र दिखाया है। इस प्राणादि-जन्य क्रिया साम्य से मनुष्यादि के समान वृक्षादि में भी जीव का अनुमान होता है।

वसु महोदय ने आत्मा के लिङ्ग प्राणादिक के कार्य को प्रत्यक्ष दिखा कर जीव की सत्ता में अनुमान प्रमाण की सहायता की है।

जिस प्रकार सोते समय भी प्राणी-शरीरों में प्राणादि द्वारा रुधिराभिसरण आदि कर्म होते रहते हैं उसी प्रकार वृक्षादि में भी प्राणादि द्वारा रसाभिसरण आदि कर्म हो रहे हैं।

जो बात जैसी हो उसको वैसा ही समझना तथा तदनुसार ही कहना विद्वानों का कर्त्तव्य है। अन्यया समझना और अन्यथा कथन करना विद्वानों के लिए शोभनीय नहीं है।

शेष रहा—उन्हें इस विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए चैलेञ्ज तक दिया गया था परन्तु वसु महोदय संमुख नहीं आये। इत्यादि

बुद्धिमान् मनुष्य व्यर्थ के विवाद में कालक्षेप नहीं किया करते। शास्त्रार्थ करना उनका कार्य भी नहीं था क्योंकि वे अपने आपको शास्त्रज्ञ नहीं मानते थे।

उनके बनाये हुये यन्त्र का कार्य प्रत्यक्ष है उससे अधिक वह सिद्ध नहीं कर सकता, जो कार्य उसके द्वारा दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनको कोई मिथ्या नहीं कर सकता। उन कार्यों से कोई जीव मानता है माने, नहीं मानता है न माने, उनको इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं थी।

सुनते हैं वसु महोदय एक बार अमेरिका गये थे। वहां उनको निरामिष भोजी जानते हुए भी वहां प्रबन्धकों ने उनको खाने के लिये मांस परोस दिया, उन्होंने मांस खाने से निषेध कर दिया। तब व्यवस्थापकों ने कहा जब आप वृक्षों में भी जीव मानते हैं तब मांस खाने में आपको क्या आपत्ति है (क्यों परहेज है)? उन्होंने कहा मैं मांस को मनुष्यों का भोजन नहीं समझता इस लिये नहीं खाता। मैं मनुष्यों का भोजन वनस्पति को समझता हूँ। भगवान् ने वनस्पतियों को ही हमारे खाने के लिये बनाया है। इसलिये अन्नादि खाता हूं। मैं आपसे पूछता हूं आप लोग मांसाहारी होते हुए भी मनुष्य के मांस से क्यों परहेज करते हैं। जिस प्रकार आप लोग मनुष्य के मांस को अपना भोजन नहीं समझते उसी प्रकार मैं प्राणीमात्र के मांस को अभक्ष्य समझता हूं। आप लोग केवल अपनी जाति (मनुष्य जाति) का ही मांस अभक्ष्य समझते हैं। आप की (मनुष्यों की) अपनी सरकार है इसलिये मनुष्य का मांस खानेवाले को प्राणदण्ड देते हो। यदि पशु पक्षी आदि की सरकार होती अथवा उनके सुख दुःख को स्वात्मवत् समझनेवालों की सरकार होती तो आप जैसे मांसाहारियों को भी दण्डनीय समझकर यथायोग्य दण्ड दिया जाता।

पण्डित जो! जब आप मनुष्यादि प्राणियों के समान वृक्षों में भी रासायनिक प्रक्रिया का होना स्वीकार करते हैं तो फिर जीव के स्वीकार करने में आपको क्यों आपत्ति है।

आपके यन्त्र तो भूचाल की स्थिति तथा उसके देश व काल को होने के बाद ही प्रकट कर सकते होंगे। चूहे आदि प्राणी (जीवित यन्त्र) तो भूकम्प आने के आठ आठ दिन पूर्व ही उसका ज्ञान कर लेते हैं और वहां से पलायन कर जाते हैं।

पृष्ठ ४४ पंक्ति ६ से पृष्ठ ४५ पंक्ति १ तक—

यहां पर आपने अनेक बार प्राणियों का विशेषण 'सजीव' दिया है जो निरर्थक है क्योंकि प्राणी तो सभी सजीव होते हैं। निर्जीव प्राणी होते ही नहीं। अप्राणियों के दो भेद हैं सजीव और निर्जीव। स्थावर वृक्षादि सजीव हैं। पृथिवी आदि निर्जीव हैं।

सजीव सन्तान पैदा करना जीव होने की पहचान है। जिस प्रकार मनुष्य के बीज (शुक्र) द्वारा दूसरा तत्सदृश दूसरा शरीर उत्पन्न होता है उसी प्रकार चने आदि पौधे से उत्पन्न हुए बीज द्वारा तत्सदृश (उसी के समान) चने आदि का पौधा उत्पन्न होता है। ऐसी प्रक्रिया सजीव देही में ही है निर्जीव पदार्थों में नहीं है।

पृष्ठ ४४ पंक्ति १६ पर आप लिखते हैं—

'सजीव प्राणियों में जो सन्तान होती है वह स्त्री द्वारा प्रसव (प्रसूत) होती है और वह भी स्त्री तथा पुरुष दोनों ही लिङ्गों की पृथक् पृथक् होती है। परन्तु वनस्पतियों में ऐसा नहीं है, क्योंकि वहां तो गेहूँ जैसे पुरुष अन्न से भी गेहूं उपज जाता है, साथ ही मटर से मटर, चना से चना ही उत्पन्न होता है। मटर स्त्रीलिंग से मटर स्त्रीलिंग ही उत्पन्न होती है कभी मटरू नहीं। चने पुलिंग से चना पुलिंग ही उत्पन्न होता है चनी उत्पन्न नहीं होती।'

समीक्षा—आपके पूर्वोक्त कथन से निम्नलिखित नियम (व्याप्तियां) निकलते हैं—

१—जहां स्त्री पुरुष के सम्बन्ध से सन्तान होती है वहां पर जीव होता है। जहां स्त्री पुरुष का सम्बन्ध नहीं वहां जीव नहीं।

२—जहां (जिन शरीरों में) जीव है वहाँ (उन शरीरों में) दोनों लिंग पृथक् पृथक् होते हैं। जैसे मनुष्य जाति में स्त्री-पुरुष।

३—जहां दोनों लिंग पृथक् पृथक् नहीं वहां जीव नहीं। ये पूर्वोक्त सभी नियम (व्याप्तियां) अशुद्ध हैं। जैसे जो तामस प्राणी हैं जिनके शरीर तमोगुण प्रधान अणुओं से बने हैं यथा मांस अन्नादि के सड़ने से पैदा होनेवाले कृमि (प्राणी) नर मादा के योग से पैदा नहीं होते हैं तथा उनमें कोई लिंग भी नहीं होता है।

इसी प्रकार अन्न में उत्पन्न होनेवाले जन्तु सुरसी, ढोरा, खपरा आदि तथा चतुर्मास में उत्पन्न होनेवाले अनेक गण्डेवे आदि क्षुद्र प्राणी भी इसी प्रकार के हैं। इसलिये यह कोई नियम नहीं कि जहाँ (जिस शरीर में) जीव है वहां (उस शरीर में) लिंग विशेष भी है। तथा जहां लिंग भेद नहीं वहां जीव भी नहीं। इसी प्रकार स्थावरों में भी ऐसी ही योनियां हैं जहां नर और मादा का भेद है तथा ऐसी भी हैं जहां भेद नहीं है। तथा उभयलिंग भी हैं। इस विषय में प्राणी और अप्राणी अर्थात् स्थावर वृक्षादिक समान हैं

आपका किसी औषधि को स्त्रीलिंगी किसी को पुलिंगी मानना अयुक्त है। क्योंकि जौ, गेहूं, चना, उड़द, मटर, मसूर मूंग आदि औषधि वर्ग का कोई लिंग नहीं है। हां, इनके वाचक शब्द विशेष भिन्न २ भाषाओं में भिन्न २ लिंग के हैं। शब्दों के कारण इनको भी उसी लिंग का मानना अयुक्त है। जिस प्रकार जीव का योनिपरिवर्तन कर्महेतुक है उसी प्रकार लिंग परिवर्तन भी कर्महेतुक ही है। क्योंकि जीव का लिंग नहीं होता शरीर में लिंग होता है और शरीर कर्मजन्य है। शरीर का निर्माण ईश्वराधीन है। कोई मनुष्य किसी दूसरे प्राणी (पशु आदि) तथा अप्राणी (वृक्षादि) के शरीर का निर्माण नहीं कर सकता। उसके सदृश प्रतिकृति मिट्टी पत्थर काष्ठादि की तो बना सकता है। यथार्थ रूप से शरीर का निर्माण ईश्वर के ही आधीन है। उस उस योनि के बीज का निर्माण भी उसी योनि के व्यक्तियों द्वारा करवाया जाता है।

इसमें प्रमाण—

"ओं स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।"

अर्थ—(मनूनाम्) मननशील वाले मनुष्यों को तथा अन्य पशु वृक्षादि की प्रजा को (अजनयत्) उत्पन्न किया, परस्पर मनुष्य और पशु आदि के व्यवहार को चलाने के लिए। (आर्याभिविनय प्रथमप्रकाश म० ४२)

यहां पर स्वामी जी महाराज ने 'मनूनाम्' पद के अर्थ का अनुधावन मनुष्य से लेकर समस्त प्राणी जगत् और अप्राणी जगत् में स्थावर वृक्षादि तक किया है। अतः यह सिद्ध होता है कि स्वामी जी महाराज वृक्षादि में भी जीव स्वीकार करते हैं। 'मनु' का अर्थ यहां ऋषि जी ने 'जीव' किया है।

पृष्ठ ४५ पर आप लिखते हैं—

'यह तो 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' के अनुसार उपादान कारणों के गुणों के अनुसार उसके कार्य में गुणों की प्रकटता मात्र है।'

समीक्षा—यह भी आपका कथन भ्रान्तिजनक है क्योंकि भिन्न २ बीजों द्वारा आविर्भूत होनेवाली ये आकृतियां कोई गुण नहीं हैं। जिस वैशेषिक शास्त्र का आपने पूर्वोक्त सूत्र प्रस्तुत किया है उसमें गुण शब्द से रूपादि २४ पदार्थ परिभाषित हैं उनमें आकृति (अवयवों की संस्थिति विशेष) का आप कौन से गुण में सन्निवेश करते हैं? क्या रूप में? किन्तु रूप के भी शुक्ल कृष्णादि सात भेद हैं उनमें भी आकृति परिगणित नहीं है। आगे आपने

मै अंग्रेजी भाषा नहीं पढ़ा. अंग्रेजी भाषा के
कृष्टल का उदाहरण दिया है। मै अंग्रेजी भाषा नहीं पढ़ा. अंग्रेजी भाषा के
जाननेवाले व्यक्ति से पूछने पर ज्ञात हुआ कि कृष्टल एक चमकदार कण को
कहते है जैसे नमक या चीनी का। इस प्रकार के दाने बनने को कारण की
आकृति का कार्य में आना नहीं है। यह तो एक पदार्थ के अनेक टुकड़े करना
मात्र है।

पृष्ठ ४५ पंक्ति ६ पर आप लिखते हैं—

कृष्टल के कारण पदार्थ की आकृति ही उन कृष्टलस् में आती है।

समीक्षा—यदि कारण पदार्थ की आकृति भी कार्य में आती हो तो फिर
कारण और कार्य में भेद ही क्या रहा। तन्तुओं का पटाकृति में परिवर्तित
(तबदील) हो जाना हो तो पट कहाता है तभी वह आच्छादन रूपी कार्य कर
सकता है। मृत्तिका के पिण्डाकार को घटाकार में परिवर्तित कर देने पर ही
तो उससे जलानयन क्रिया होती है। अतः एक छोटे से वट के बीज से अंकुर
फूटकर महान् वट वृक्ष का बन जाना 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' का
उदाहरण नहीं कहा जा सकता। आप की इस बात को कोई भी नैयायिक
विद्वान् स्वीकार न करेगा।

पृष्ठ ४५ पंक्ति १२ पर लिखा है—

इसके अतिरिक्त बहुत सारे वृक्ष और लताएं विना बीज के भी उत्पन्न
हो जाती हैं।

समीक्षा—बीज नाम कारण का है। जो जिससे उत्पन्न होता है वही उसका बीज (कारण) है। जो गुलाब का पौदा गुलाब की शाखा मे उत्पन्न होता है। शाखा ही उसका बीज है। अमरबेल का टुकड़ा जि। वृक्ष पर डाल दिया जाता है उसका कुछ भाग उस वृक्ष की त्वचा (वक्कल) से ऐसा संयुक्त हो जाता है कि वह उसका अंगवत् बन कर उससे रस ग्रहण करता है जिससे बेल बढ़ती जाती है और वृक्ष को वृद्धि रुक जाती है। जिस प्रकार जोंक प्राणी के शरीर से संयुक्त होकर उसका खून चूस कर पुष्ट हो जाती है उसी प्रकार अमर बेल है। जो शाखा वृक्ष से काट दी जाती है उसका वृक्ष से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने से वृक्षस्थ प्राणादि का सम्बन्ध भी उससे विच्छिन्न हो जाता है। प्राणादि के सम्बन्ध न रहने से वृक्षस्थ जीव का भी सम्बन्ध उस शाखा से नहीं रहता। जिस प्रकार मनुष्यादि प्राणी का जो अंग काट कर फेंक दिया जाता है उसके साथ शरीरस्थ प्राणादि का सम्बन्ध न रहने से आत्मा का भी सम्बन्ध नहीं रहता।

जो हरित शाखा भूमि में आरोपित कर दी जाती है उसमें अपूर्व जीव के वायु विद्युत् आदि के द्वारा आगमन से जीवन प्रारम्भ हो जाता है। यदि अदृष्टवशात् जीव उसमें न रहे तो प्राणादि भी नहीं रहते इससे वह सूख जाता है। जो वृक्ष या झाड़ी आदि प्राणियों को स्पर्शमात्र से पकड़ लेते और पुनः छोड़ देते हैं यह कार्य उनमें विद्युत् शक्ति का कार्य है। उन पौधों में आकर्षण विकर्षण वाली विद्युत् का प्राबल्य है जिससे ऐसा होता है। उन पौधों में स्वतः ज्ञान इच्छा आदि गुणों से नहीं। वह विद्युत् शक्ति उनमें उनके अदृष्ट (धर्माधर्म) के कारण से है। जीव की विद्यमानता उनमें जीवन क्रिया के होने से अनुमित है। आप सर्वत्र साभिमानी शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका व्याकरण के अनुसार अर्थ संगत नहीं बैठता क्योंकि 'अभिमानो-अस्यास्तीति अभिमानी' मत्वर्थीय इनि प्रत्यय से बनता है। इसका अर्थ है अभिमानवाला अर्थात् जिसको स्व और स्वकीय का ज्ञान है ऐसा जीव। ऐसे तो मनुष्यादि चेतन प्राणी ही हैं। स्थावर को ऐसा भान नहीं हो सकता क्योंकि वहां (उसके पास) इसके लिए साधन नहीं हैं। वृक्षादि स्थावर शरीरवाला जीव तो उनमें कर्मानुसार शयन (स्थिति) करता है। इसलिये उसको अनुशयी जीव कहना उपयुक्त है। 'अनुशेते तच्छील:' इस अर्थ में णिनि प्रत्यय करने से अनुशयी बना है। इसमें वृद्धि का अभाव निपातन से है। अथवा अनुशय नाम धर्माधर्म का है। उससे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करने से अनुशयी शब्द सिद्ध होता है। 'साभिमानी=अभिमानिना (प्राणिना) सह वर्तते इति साभिमानी' सप्राणी (प्राणी सहित) कोई अन्य पदार्थ हो सकता है जीवात्मा नहीं। जीवात्मा के लिये तो अभिमानी वा साभिमान शब्द प्रयोग समुचित है।

वर्तमान मनुष्य जन्म में कर्म करने के पश्चात् मरणानन्तर अग्रिम मनुष्य जन्म में कर्म करने के लिये उपयुक्त नवीन साधनों (देहेन्द्रिय अन्तःकरण) के परिष्कार के लिए कुछ काल तक स्थावर योनियों में निवास करनेवाले जीव को 'अनुशयी' संज्ञा है। क्योंकि उस अवस्था में उसके बाह्य साधनों से होनेवाले ज्ञान इच्छादि गुण साधनों के अभाव से अप्रकट रहते हैं। केवल उसके अदृष्ट (धर्माधर्म) उसके कर्म होते हैं। जिस प्रकार दिन में कार्य करने से श्रान्त प्राणियों को अगले दिन में उत्साह से कार्य करने के लिये रात्रि में शयन (विश्राम) की आवश्यकता होती है तद्वत् नवीन मनुष्य शरीर की प्राप्ति से पूर्व स्थावर योनियों में स्थिति (शयन) की आवश्यकता है।

यथा वर्ष भर कार्य करके मनुष्य अग्रिम वर्ष में पुनः उत्साह से कार्य करने के लिये एक दो मास का अवकाश लेकर उत्तमोत्तम प्रदेशों के भ्रमण को

जाते हैं, वह भ्रमण उनकी शारीरिक व मानसिक शक्तियों के विकास में सहायक होता है, उसी प्रकार मृत्यु के बाद स्थावर योनियों में भ्रमण को भी सहायक समझना चाहिए।

सांख्यशास्त्र में कहा है—

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः। (अ० ५ सू० ८४)

'न किञ्चिदप्यनुशयिनः'। (सांख्य ५-८५)

अर्थ—प्राणियों के दो भेद हैं एक चेतन—देव पितर और साधारण मनुष्य। दूसरे जङ्गम-पशु पक्षी आदि।

इनमें देव और पितरों के शरीर 'कर्मदेह' हैं; क्योंकि वे भोग (सुख दुःख) प्राप्ति की परवाह न करके स्वकर्त्तव्य कर्मानुष्ठान में ही रत रहते हैं। दूसरे साधारण मनुष्य 'उभयदेह' हैं; क्योंकि वे सुख प्राप्ति के लिए वित्त दारादि का उपार्जन तथा परलोक में भी सुख प्राप्ति के लिए यज्ञ दानादि विहित कर्मानुष्ठान करते रहते हैं। तीसरे जङ्गम प्राणी 'उपभोगदेह' हैं; क्योंकि उनके वर्त्तमान कर्म आगे के लिए नहीं हैं अपितु प्रारब्ध को ही फलीभूत करनेवाले हैं। चतुर्थ 'स्थावरदेह' अनुशयी जीवों के होते हैं। अनेक देह पूर्वोक्त तीन प्रकार के देहों में परिगणित नहीं होते; क्योंकि उनमें ज्ञानादि गुणों के साधन न होने से स्वेच्छया कर्म करने और भोग (सुखदुःखानुभव) का अभाव है।

नोट—श्री पं० उदयवीर जो शास्त्री सांख्य तीर्थ ने स्थावर देहों को भी 'उपभोग देह' स्वीकार किया है। उपभोगदेहः, उपभोगार्थो वा देहः, उपभोग निमित्तो वा देहः, उपभोगाय हितो देहः इति उपभोगदेहः। इत्यादि विग्रह से स्थावरों को सुख दुःख प्राप्ति में सहायक होने से 'उपभोग देह' कहना संगत हो सकता है।

प्रश्न—जब स्थावरस्थ जीवों को भोग (सुखदुःखानुभव) का सम्बन्ध नहीं तो पुनः उनको वृक्षादि में अनुशयन (स्थिति) करने से क्या लाभ है ?

उत्तर—जीव के लिंग शरीर में जिन सत्वादि गुणों का सम्बन्ध है उन्हीं सत्वादि गुणों का योग स्थावर वृक्षादि में भी है। वृक्षादि में स्थिति करने से उनके गुणों का प्रभाव सूक्ष्म रूप से लिंग शरीर पर पड़ता है। जब जीव मनुष्य देह धारण करता है तब लिंग शरीर पर पड़ा हुआ सूक्ष्म प्रभाव मनुष्य के वागादि पर होता है जो मनुष्य की सफलता असफलता, उन्नति-अवनति का

कारण बनता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्वभाव परिवर्तन के लिए जीव को वृक्षादि स्थावरों में स्थिति करनी आवश्यक है।

इसको निम्नलिखित दृष्टान्त से भलीभांति समझा जा सकता है। भटिण्डा आदि की तरफ ग्रीष्म ऋतु में घड़े का पानी शीतल रखने के लिये निम्न उपाय करते हैं—

जब पौष माघ के दिनों में अत्यन्त शीत पड़ता है तब चिकनी मिट्टी को कूट छान कर उसको चून के समान पानी से गूंथ कर रात्रि समय खुले आकाश में छत आदि पर रख देते हैं; ऐसा लगभग तीस चालीस दिन तक करते हैं। जब ग्रीष्म ऋतु आती है तब उस मिट्टी को पुनः पानी द्वारा चून के समान गूंथकर घड़े पर लेप कर देते हैं तथा उस पात्र को एक स्थान पर ही रखा रहने देते हैं; उस घट में भरा हुआ जल कई महीनों तक शीतल रहता है। तथा जो घट ग्रीष्म ऋतु में बनाए जाते हैं उनकी अपेक्षा जो घट शीत ऋतु के बने होते हैं उनमें जल शीतल रहता है। इसका कारण यह है कि शीतकाल में जो शैत्य (ठण्डक) मिट्टी के कणों में सूक्ष्म रूप से व्याप्त हो गई थी उसके सम्बन्ध से घटस्थ जल प्रतिकूल वातावरण में भी अपने स्वाभाविक शैत्यगुण के उत्कर्ष को प्राप्त करता रहता है। इसी प्रकार हमारे लिंग शरीर का प्रभाव हमारे स्थूल शरीर के अंगों पर पड़ता है।

चतुर्थ दिन के संवाद की समीक्षा समाप्त हुई।

अथ पञ्चम-दिन-सम्वाद-समीक्षा

वैदिक प्रमाण भाग

ओम् 'सूर्य चक्षुर्गच्छतु॰' इस मन्त्र का भावार्थ माननीय पं॰ जी यह बतलाते हैं कि –'ये वे स्थान विशेष हैं जिनमें आधार-आधेय सम्बन्ध के द्वारा जोव एक योनि छोड़कर दूसरी योनि में जाता है' (पृष्ठ ४६ पंक्ति १७,१८,१६) तथा पंक्ति २२ और पृष्ठ ५० पंक्ति १ से ५ के मध्य में लिखा है—

'जीवात्मा मृत्यु से लेकर अन्य जन्मधारण करने के मध्य इन इन लोकों और वस्तुओं में होकर ही पुनर्जन्म प्राप्त कर पाता है। ······मेरे इस अर्थ की पुष्टि स्वयं यजुर्वेद ३६।६ पर अंकित मन्त्र— 'सविता प्रथमे॰' वाले मन्त्र से हो जाती है।'

समीक्षा—मेरे विचार में आपने पूर्वोक्त मन्त्रों का गम्भीरता से विचार नहीं किया; किया है तो ठीक प्रकार समझा नहीं है।

'सूर्य चक्षुर्गच्छतु॰' इत्यादि मन्त्र का महर्षिदयानन्द जी ने अन्त्येष्टि कर्म में विनियोग किया है। क्योंकि मृत्यु के बाद शरीर का दाहकर्म यथाविधि कर देना चाहिये जिससे कोई शरीर का अवयव माँस रुधिर अस्थि आदि गल सड़कर दुर्गन्ध पैदा करके रोग का कारण न बने।

इस मन्त्र में शरीर के दाहकर्म से शरीरस्थ पृथिवो आदि भूत अपने अपने कारण में लय को प्राप्त हो जाते हैं। तथा अन्न में प्राणी योनियों में जन्म धारण करने से पूर्व होनेवाली स्थावरों में स्थिति का भो वर्णन कर दिया है।

यजुर्वेद का 'सविता प्रथमे अहन्॰' इत्यादि मन्त्र जीवात्मा की वृक्षादि स्थावर योनियों में स्थिति होने से पूर्व की गतियों का वर्णन करता है। मृत्यु के बाद बारह दिनों में बारह पदार्थों में जीवात्मा की गति करने का उद्देश्य सूक्ष्म शरीर पर पड़े हुए पूर्व शरीर के प्रभाव को हटाकर नया प्रभाव डालना है। जिस प्रकार किसी वस्त्र पर नवीन रंग चढाने के लिये उस पर लगे हुए मैल वा रंग का उससे पृथक् कर देना आवश्यक होता है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के अवयव सत्तरह (१७) तत्त्वों की पूर्व शरीर में उपस्थिति से प्राप्त प्रभावों के प्रक्षालन (धोने) के लिये सूर्य प्रकाश आदि पदार्थों में विशिष्ट रूप से गति होती है।

तत्पश्चात् वायवीय, तैजस, जलीय आदि स्थावर शरीरों में स्थिति करने

से अग्रिम देह के लिये तैयारी होती है। अर्थात् इन शरीरों में स्थिति करने से सूक्ष्म शरीर के विभिन्न अवयवों पर विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। आपने पूर्वोक्त मन्त्रों का भाव साम्य बतलाया है, किन्तु ऐसा कथन ठीक नहीं है। जैसे—'सविता प्रथमे अहन्॰' इस मन्त्र में क्रमशः बारह दिन तक बारह पदार्थों में स्थिति बताई गई है।

किन्तु 'सूर्य चक्षुर्गच्छतु॰' इत्यादि मन्त्र में इन्द्रियों की अन्तःकरण में लीनता का और पञ्च प्राणों वा दश प्राणों का वात में, तैजस, आप्य, पार्थिव भागों का स्व २ कारण में लय होने का विधान है। मेरे विचार में आपने 'धाम' का अर्थ आकाश किया है जो संगत नहीं है। क्योंकि आपके मतानुसार तैजस शरीरवाले, वायु में वायवीय शरीरवाले, जल में आप्य शरीरवाले और पृथिवी पर पार्थिव शरीरवाले जीव निवास करते हैं। अब आकाश में अन्य कौन से शरीरवाले जीव निवास करेंगे? क्या आकाशस्थ जीवों के लिये 'आकाशीय' शरीर नहीं होने चाहिये? आप द्वारा आकाश के पृथक् निर्देश से तो यही भाव निकलता है।

पृष्ठ ५० पंक्ति ८ पर तथा उससे आगे आप लिखते हैं—

इस मन्त्र का दूसरा भाव यह हो सकता है कि आत्मा विभिन्न शरीरों या योनियों द्वारा सूर्य वायु आकाश पृथिवी जल और ओषधि आदि में जन्म धारण करता है···इत्यादि। तथा पृष्ठ ५० पंक्ति १८ पर—दर्शन ग्रन्थों में श्री अन्नंभट्ट ने स्पष्ट रूप में तैजस शरीरों के लिये लिखा है 'तदादित्यलोके प्रसिद्धम्।'

समीक्षा—आपके इस भाव में भी कई दोष हैं। 'आकाश में जन्म धारण करने का क्या अभिप्राय है? आकाश तो वैशेषिक मतानुसार अवकाश (रिक्त स्थान) का नाम है; वह सर्वव्यापक है सूर्यादि भी आकाश में ही है। यदि 'द्यौ' का अर्थ आकाश करके द्यौ लोक करते तो कुछ ठीक रहता, क्योंकि द्यौ लोक उसे कहते हैं जो सूर्य के चारों ओर हजारों मील तक सूर्य की लपटें (ज्वालायें) निकलती हैं। वह भी आकाश के एक देश में है।

जब पृथिवी शब्द का पाठ है फिर ओषधि शब्द के पृथक् कथन की क्या आवश्यकता रह जाती है? क्योंकि औषधियां पार्थिव ही तो हैं। यदि यह कहो कि पृथिवी की तरह औषधि वर्ग भी विभिन्न कृमि योनियों की उत्पत्ति आदि का आश्रय है तो इस प्रकार मनुष्य पशु आदि के शरीर भी विभिन्न कृमियों की उत्पत्ति आदि के आश्रय हैं।

जब मनुष्य आदि के शरीर अभिमानी जीव के रहते हुए अन्य क्षुद्र प्राणियो (कृमिवर्ग) की उत्पत्ति स्थिति के आश्रय रह सकते हैं तो वृक्षादि स्थावर शरीर भी अपने अधिष्ठाता (मालिक) जीव के रहते हुए भी आपके तथा कथित क्षुद्र कृमि आदि योनियों के आश्रय रहे रहें, हमको कोई आपत्ति नहीं। परन्तु आपको वृक्षादि के अधिष्ठाता जीव मानने में क्यों आपत्ति है ? जब कि वेद का कहना है—"ओषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरं:" यह जीव को ही सम्बोधन करके कहा गया है किसी प्राणी विशेष को नहीं। आपने 'तर्कसंग्रह'कार अन्नंभट्ट का प्रामाणिक विद्वान् के रूप में निर्देश किया है परन्तु महर्षि दयानन्द जी ने तो उनके ग्रन्थ को न पढने योग्य ग्रन्थों में गिनाया है। अच्छा होता आप अपने कथन की पुष्टि के लिये सर्वसम्मत किसी ऋषि मुनि का निर्देश करते।

आप सूर्य में प्राणी मानते हैं। प्राणीजगत् के दो भेद हैं, एक चेतन (ज्ञान विज्ञान सहित) मनुष्य, दूसरे जंगम (ज्ञान सहित मनस्विता रहित) पशु पक्षी आदि तिर्यक् योनियां।

तीसरे प्रकार के जीव अप्राणी जगत् में स्थावर श्रेणी के हैं। परन्तु आप उनको पृथिवी पर भी नहीं मानते तो सूर्यादि में कैसे स्वीकार करेंगे। यदि सूर्य में मनुष्य नामधारी प्राणी हैं तो उनके लिये जंगम प्राणी भी स्वीकार करने होंगे। क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। जंगम की स्थिति स्थावर वृक्षादि के बिना नहीं हो सकती तथा मनुष्यों की भी नहीं हो सकती अतः सूर्य में स्थावर भी मानने ही पड़ेंगे। परन्तु वृक्षादि स्थावरों की उत्पत्ति आदि जल के बिना असम्भव है। जल का सूर्य में सम्भव नहीं क्योंकि सूर्य तो एक अग्नि का गोला है। इसलिये सूर्य में मनुष्यादि प्राणियों की सृष्टि नहीं है।

आपके मत में सूर्यलोक में जो तैजस शरीरवाले प्राणी निवास करते हैं उनमें ज्ञानेच्छादि गुण तो आप मानते ही हैं। उनको वेदज्ञान स्वतः (सहज) है वा हमारी (मर्त्यलोक की) तरह दूसरे से ग्रहण करना पड़ता है ? सहज होने में क्या प्रमाण है ? तथा उनका उपभोग वे किसके लिए करते हैं ? दूसरों से ग्रहण करने में हमारे समान उनको भी परिश्रम करना पड़ता होगा। पुनः उसको वेदविहित यज्ञादि कर्मानुष्ठान भी करना आवश्यक होगा। उन कर्मों का सम्पादन वे हमारी तरह ही करते हैं वा किसी अन्य रीति से ? क्योंकि वहां तो केवल एक ही तत्त्व 'तेजस्' की प्रधानता है। अन्य जल ओषधि आदि तो वहां सम्भव नहीं। पुनः उनको अहोरात्र पक्ष मास ऋतु आदि का ज्ञान हमारे समान कैसे होगा। वेदों में जो नानाविध अन्न आदि का विधान है उनका व्यावहारिक ज्ञान हमारे सदृश उनको कैसे सम्भव है ?

क्या उनका जन्म आदिसृष्टि को छोड़कर वर्तमान आदिकाल में माता पिता से है ? अथवा अयोनिज है। वे प्राणी मनुष्यवत् कर्म करने में स्वतन्त्र हैं वा नहीं। यदि स्वतन्त्र नहीं तो उनको भोग देह मानना होगा। स्वतन्त्र हैं तो उनको मनुष्यवत् ही स्वीकार करना होगा, परन्तु मनुष्य तो मर्त्य अर्थात् पार्थिव देहधारी है। आदिसृष्टि को छोड़कर योनिज (मातापितृज) है। मेरे विचार में तो वे सूर्यादि में रहनेवाले तैजस शरीरी अप्राणी (जड) ज्ञानादि रहित तथा वृक्षादि स्थावरों के समान कर्मदेह उपभोग देह तथा उभयदेह रहित केवल अनुशयी (तैजसशरीर में स्थिति करनेवाले) हैं और अयोनिज (तैजस अणुओं से बने शरीरवाले) हैं। क्योंकि मुक्ति के बाद परमात्मा जीवात्मा को योनि द्वारा (माता पिता के सम्बन्ध से) साधारण मनुष्य का शरीर भूमिलोक पर ही देता है सूर्यादि लोक में नहीं देता। इसमें प्रमाण—

'स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च'।
(ऋ० मं० १—सू० २४-२)

अर्थ—जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर—पृथिवी में (पर) पुनः माता पिता के सम्बन्ध में (से) जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है।
(सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास)

यदि सूर्यस्थ जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होते तो वहां पर भी मुक्ति के बाद जन्म हो सकता था, परन्तु वेद ने केवल मही (पृथिवी) पर ही तथा वह भी माता पिता के सम्बन्ध से, ऐसा निर्देश किया है। इससे जाना जाता है कि मनुष्य भूलोक का ही प्राणी है।

स्वामी दयानन्द जी महाराज के मन्त्रार्थ से अर्थापत्ति प्रमाण से यह भी सिद्ध हुआ कि मुक्तात्मा के भी साधारण मनुष्योचित कर्म शेष रहे रहते हैं जिन से पुनः मुक्ति के बाद उसका माता पिता के सम्बन्ध से जन्म होता है।

पृष्ठ ५१ पर—'इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति'।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः॥
(अथर्व० का० १-३२-१)

इस मन्त्र का अर्थ आपने इस प्रकार किया है—

(जनासः) हे मनुष्यो (इदम्) इस बात को (विदथ) जानो (तत्) वह
(न) नहीं है (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (न) नहीं है (दिवि) आकाश में (येन)
जिस परमात्मा की सविता प्रेरणा शक्ति से (वीरुधः) वृक्ष प्राण के आधार
पर हरे भरे रहते या घटते बढ़ते रहते हैं।

समीक्षा—माननीय पण्डित जी ने जो मन्त्र के पदों का अर्थ किया है उस
के अनुसार मन्त्र का यह संक्षिप्त भाव होगा—हे मनुष्यो जिस परमात्मा की
शक्ति से वृक्षादि हरे भरे रहते हैं वह परमात्मा न तो पृथिवी पर है और न
आकाश में है; ऐसा तुमको जानना चाहिए। यह भाव सिद्धान्त विरुद्ध होने से
त्याज्य है क्योंकि परमात्मा तो सर्वव्यापक होने से सर्वत्र ही है। उसका पृथिवी
पर अभाव कैसे हो सकता है? तथा आकाश सर्वत्र है, उसका आकाश में निषेध
करने से सर्वत्र अभाव प्राप्त होगा, इससे तो परमात्मा की सत्ता का ही खण्डन
होगया। जब परमात्मा नहीं रहा तो उसकी शक्ति का भी स्वतः खण्डन
(अभाव) हो जाता है। इसलिये आपका मन्त्रार्थ ठीक नहीं। तथा 'येन'
पद का अर्थ आपने 'जिस परमात्मा की सविता प्रेरणा शक्ति से' ऐसा किया
है। हम 'यत्' से 'परमात्मा' अर्थ ग्रहण करें? वा 'सविता' ग्रहण करें अथवा
'प्रेरणाशक्ति' अर्थ लेवें आपने तो तीनों की खिचड़ी बना दी है।

'प्राणन्ति' क्रिया का भी आपने 'घटते बढ़ते रहते हैं' यह विचित्र ही भाव निकाला है। तथा 'घटते बढ़ते रहते हैं' यह वाक्य योजना भी यथार्थ नहीं है। 'बढ़ते तथा घटते रहते हैं' ऐसी वाक्यरचना साधु है। क्योंकि प्रथम वृद्धि होकर पश्चात् ह्रास होना सम्भव है।

प्रथम दिन के सम्वाद में तो आपने कहा था कि–'वृक्ष बढ़ते हैं घटते नहीं' परन्तु यहां पर उसे स्वीकार कर लिया। क्या यह वदतो व्याघात' दोष नहीं है?

पूज्य पण्डित जी 'प्राणन्ति' का अर्थ है—'प्राणान् धारयन्ति' 'जीवन्ति' अथवा प्राणिनो भवन्ति। यथा पचति का पाकं करोति अर्थ होता है।

आपके पूर्वोक्त मन्त्र के अर्थानुसार 'ओम् यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव' इस मन्त्रभाग का इस प्रकार अर्थ होगा—

(यः) जो परमात्मा (प्राणतः) प्राण के आधार से हरे भरे रहनेवाले वृक्षादि का (निमिषतः) निमेष उन्मेष करनेवाले मनुष्य आदि (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपनी अनन्त महिमा से (एक इत् राजा बभूव) एक ही राजा था, है और होगा।

परन्तु महर्षि दयानन्द जी महाराज ने इसका निम्न प्रकार से अर्थ किया है—

'(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले (निमिषतः जगतः) अप्राणी रूप जगत् का (महित्वा) अपनी अनन्त महिमा से (एक इत्) एक ही (राजा) राजा (बभूव) विराजमान है।' (संस्कार विधि पृष्ठ ४)

इन दोनों अर्थों में परस्पर विरोध होने से एक ही मान्य हो सकता है दोनों नहीं। अतः स्वामी जी का अर्थ हमारे लिये प्रामाणिक है अन्य उससे विरुद्ध अप्रामाणिक।

पृष्ठ ५२ पर—अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥
(अथर्व० १०-८-३१)

यह मन्त्र लिखकर इसके भावार्थ में 'अवि' नामक देवता के दो अर्थ किये हैं, एक परमात्मा दूसरा अचर जगत् में व्याप्त प्राण।

समीक्षा—इस सूक्त में चवालीस (४४) मन्त्र हैं सबका 'अध्यात्म' देवता है। अध्यात्म का अर्थ='आत्मनि अधि (अधिष्ठाय) वर्त्तते इति अध्यात्मम्' जो जीव का अन्तर्यामी होकर उसका अधिष्ठाता है उस परमात्मा को 'अध्यात्म' कहते हैं। 'आत्मा' का अर्थ देह मानकर 'अध्यात्म' का अर्थ आपका अभीष्ट 'प्राण' भी किया जासकता है। परन्तु क्या वह अचर (जड) वृक्षादि में ही क्रिया करता है? चर मनुष्य आदि में उसकी क्रिया नहीं होती? जब प्राण की क्रिया मनुष्य आदि चर जगत् में तथा वृक्षादि अचर जगत् में समान रूप से उपलब्ध होती है तो मनुष्य आदि के समान प्राणरूप लिंग के कारण वृक्षादि में भी जीवात्मा क्यों न माना जावे?

जिस प्रकार प्राण अपान आदि की क्रिया से चर (चेतन) मनुष्यादि प्राणी हृष्ट पुष्ट रहते हैं, उसी प्रकार उनकी क्रिया से अचर (जड) वृक्षादि भी हरे-भरे लहलहाते रहते हैं। इससे वृक्षादि में जीव का अभाव तो सिद्ध नहीं होता किन्तु भाव ही सिद्ध होता है।

अब आप वृक्षों में जीव है इसकी सिद्धि के लिये इसी सूक्त का द्वितीय मन्त्र देखिये—

ओम् स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत्प्राणन्निमिषच्च यत्॥
(अथर्व० का० १०-८-२)

पदार्थः—स्कम्भेन=स्कभ्नाति धारयति सर्वं जगद् इति स्कम्भ, सर्वाधारः

विस्कभिते=विशिष्टतया-नियमेन
जगदीश्वरः तेन । इमे=परिदृश्यमाने । वा स्वयं प्रकाशस्वरूपः-अन्यप्रकाशकश्च
धारिते । द्यौः=या द्योतते द्योतयति भूमिः=भवन्ति भूतानि यस्यां सा
सूर्यादिलोकः । च=तत्रस्थं पदार्थजातम् । (च) तत्रस्थं पदार्थजातम् । तिष्ठतः=
प्रकाशरहितः पृथिव्यादिप्रकाश्यलोकः । इदम्=सन्निहितम् । सर्वम्=
स्वस्थिति कुरुतः । स्कम्भे=पूर्वोक्तजगदीश्वरे । आत्मसहितम्, यत्=यत्
विश्वम् । आत्मन्वत्=आत्मा अस्मिन्नस्तीति, तद्धारयतीति प्राणत्
प्राणत्=प्राणीति, प्राणान् इन्द्रियाणि अन्तःकरणञ्च करोतीति ज्ञाने
मनुष्यादिकं चेतनं जगत् । निमिषत्=निमिषति अक्षिसंकोच तत्सर्वं तिष्ठतीति
न्द्रियादिव्यापाररहितं स्थावरं जगत् । (च) मुक्तात्मनः (यत्)
शेषः ।

भाषार्थ=(इमे द्यौः च भूमिः च स्कम्भेन विष्टभिते तिष्ठतः) ये द्यौ लोक (सूर्य
और पृथिवी लोक सर्वाधार परमात्मा से नियमपूर्वक धारण किए हुए स्वमर्यादा में
स्थित हैं । (यत् प्राणत् यत् च निमिषत् आत्मन्वत् इदं सर्वं स्कम्भे) जो आत्म
वाला प्राणी जगत् और आत्मावाला निरिन्द्रिय स्थावर जगत् है यह स
सर्वाधार ईश्वर में ही स्थित है ।

व्याख्या—सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास में सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुष
की व्याख्या में जगत् के प्रथम प्राणी और अप्राणी दो भेद किये हैं, पुनः प्राणी
जगत् के दो विभाग चेतन और जंगम तथा अप्राणी जगत् के भी दो विभा
स्थावर वृक्षादि और पृथिव्यादि किये है । इसी प्रकार इस मन्त्र में पृथिव्यादि
जड जगत् को दो विभागों में विभक्त करके बताया (समझाया) गया है । ए
'द्यौ' पद से सात्विक (सतोगुणप्रधान) जडजगत्, दूसरा 'भूमि' पद से ताम
(तमोगुण प्रधान) जडजगत् । अप्राणी स्थावर वृक्षादि को 'निमिषत्' पद से
'प्राणत्' पद से 'जंगम' पदवाच्य पशु आदि को तथा 'आत्मन्वत्' पद से चेत
(ज्ञान विज्ञान सम्पन्न) मनुष्य का निर्देश है क्योंकि आत्मा की विशिष्ट श
विद्या और तप का यहां आत्मा शब्द से ग्रहण करना चाहिये-उन वाले ही मनु
हो सकते हैं इतर प्राणी नहीं हो सकते ।

तथा अन्तिम 'चकार' से मुक्तात्माओं (जो जगत् से बहिर्भूत हैं)
ग्रहण है ऐसा समझना चाहिये ।

इस प्रकार इस मन्त्र में जीवात्माओं की चार श्रेणियां (विभा
समझाये (बताये) गये हैं । प्रथम 'आत्मन्वत्' से चेतन मनुष्य, द्वितीय 'प्राणत्
से बुद्धि मन पांच ज्ञानेन्द्रियां रूपी सप्तप्राणों की सामान्य शक्तिवाले जीवात्मा

'जंगम' नाम से कहे जाते हैं । तृतीय सुप्तवत् जड (बाह्यज्ञानशून्य) वृक्षादि स्थावर नाम से कहे जानेवाले; चतुर्थ मुक्तात्मा जो चराचर जगत् से बहिर्भूत हैं। सब का आधार (धारक) ब्रह्म ही है यह मन्त्र का भाव है ।

पृष्ठ ५२ पर आप लिखते हैं—

जिज्ञासु—क्या कोई सामान्य प्राण सम्पूर्ण चराचर जगत् में कार्य करता है ? आपके पास इसका कोई प्रमाण है ?

पण्डित—क्यों नहीं, देखो अथर्ववेद का ही निम्नमन्त्र इस में प्रमाण है—

प्राणेणाग्निं संमृजति वातः प्राणेन संहितः ।
प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन् ॥
(अथर्व॰ का॰ १९-२७-७)

अर्थ—यह परमात्मा "प्राणेन" प्राणरूप सामर्थ्य के द्वारा अग्नि को उत्पन्न करता है और वायु को प्राण से युक्त रखता है और सब ओर मुख वाले सूर्य और अन्य लाभप्रद देवताओं को उत्पन्न करता है ।

समीक्षा—वेद के शब्द यौगिक हैं रूढी नहीं; इसलिये एक ही शब्द के भिन्न २ स्थानों पर भिन्न२ अर्थ योगवशात् (अर्थ-सम्बन्ध के कारण) हो सकते हैं । तदनुसार जो प्राण वृक्षों का पोषण संरक्षण करता है वही प्राण अग्नि को और सूर्य को भी पैदा करता है ऐसा समझना भ्रान्ति है । स्थूल आग्नेय (तैजस) पदार्थ तैजस परमाणुओं से पैदा होते हैं उनके सहायक व बाधक अन्य पार्थिव आदि तत्त्व भी होते हैं । आपने मन्त्रार्थ में 'अन्य लाभप्रद जड देवताओं को उत्पन्न करता है' यह मन्त्र के कौन से वाक्य से लिया है (किया है) ?

पृष्ठ ५३ पर आप लिखते हैं —

(I) 'प्राण के निकलते ही आत्मा निकलता है' (पंक्ति ४,५)

'प्राण के निकल जाने पर ही शरीर से जीव का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है । अर्थात् प्राण के निकलने पर ही जीव शरीर से निकालता है ।
(पंक्ति २१-२३)

(II) 'आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः ।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥
(अथर्व॰ १९-२७-८)

इस मन्त्र का संक्षिप्त भाव यह है—ऐ जीव ! आयु अर्थात् भोगों के द्वारा जो आयु तुझे प्राप्त हुई है । उनके द्वारा जब तक तेरे उस योनि के भोग बाकी हैं, तब तक तू मृत्यु प्राप्त नहीं कर सकता, और जब तक प्राण तेरे साथ हैं तब तक भी ऐ जीव ! तू मृत्यु के वशीभूत नहीं हो सकता । (पंक्ति १०-१७)

समीक्षा—(१) प्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि प्राण आदि जीव के साथ बन्धे हुए हैं जीव नहीं; अर्थात् जीवात्मा प्राण लिंग का लिंगी (व्यापक) है। प्राणादि लिंग (व्याप्य) हैं और जीवात्मा लिंगी (व्यापक) है। आपने प्राण को लिंगी (व्यापक) बना दिया और जीव को लिंग (व्याप्य) समझ लिया है। यह अयुक्त है।

व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है—जहां २ प्राण हैं वहां २ जीव है (अन्वय व्याप्ति)। जहां २ जीव नहीं है वहां २ प्राण भी नहीं है (व्यतिरेक व्याप्ति)।

जीव के न रहने पर प्राणादि नहीं रह सकते इसलिये प्रथम शरीर से जीव जाता है पश्चात् (वा समकाल में) प्राण आदि निकलते हैं। प्राण के पश्चात् जीव नहीं। क्योंकि प्राण तो जीव का लिंग (बोधक) है। तथा उसके स्थूल होने से उसकी क्रिया प्रत्यक्ष का विषय हैं। क्रिया प्रत्यक्ष न होने पर कह दिया जाता है वा समझ लिया जाता है कि जीव शरीर से निकल गया, वा शरीर छोड़कर चला गया। परन्तु इस कारण से यह समझना कि प्राण निकलने पर ही जीव शरीर से निकलता है यह धारणा अशास्त्रीय होने से भ्रान्त है।

(२) आपके पूर्व मन्त्रोक्त भावार्थ से मनुष्य को क्या उत्तम प्रेरणा मिलती है? मृत्यु को परे हटाने वा सुखपूर्वक दीर्घ जीवन प्राप्त करने का कोई उपाय आपने बतलाया नहीं। आपके भावार्थ से उत्तम अथर्ववेद भाष्यकार पण्डित क्षेमकरण जी का है। जो निम्न प्रकार है :-

"मनुष्य को योग्य है कि बड़े जितेन्द्रिय पुरुषार्थी महात्माओं के समान अपने जीवन को पुरुषार्थी बना कर यशस्वी होवें।"

अपने भावार्थ में आपका यह लिखना भी भ्रान्तिजनक है :—

'भोगों के द्वारा तुझे प्राप्त हुई है'।

आयु तो प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त होती है, भोगों के द्वारा नहीं। इसमें प्रमाण—

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'

(योग० साधन पाद सूत्र १२)

पृष्ठ ५३ पं. २५ तथा पृष्ठ ५४ के आरम्भ में आप फरमाते हैं:—

'सामान्य प्राण तो परमेश्वर के नियम के अनुसार सम्पूर्ण जड़-सृष्टि में व्याप्त रहता हुआ परमेश्वर के निमित्त से उसकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साधन बना रहता है। परन्तु सभी प्राणियों में भी विशेष प्राण उसी परमात्मा की शक्ति से शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु का साधन बना रहता है।

समीक्षा—आपके पूर्वोक्त लेख से यह ज्ञात हुआ कि आप दो प्राण मानते हैं, एक सामान्य प्राण, दूसरा विशेष प्राण। सामान्य प्राण प्राणियों (चेतनों) में कार्य करता है। परन्तु आपने सामान्य प्राण और विशेष प्राण का कोई भेद (भिन्नता) नहीं बताया अर्थात् उनके पृथक् २ स्वरूप का प्रतिपादन नहीं किया।

आप यहां जड में किस २ की गणना करते हैं? क्या पत्थर में वही प्राण है जो वृक्ष में है? यदि हां, तो पत्थर वृक्ष के समान बढता घटता क्यों नहीं?

तथा प्राणी से आप किस २ का ग्रहण करते हैं, और क्यों?

आपके मत में वृक्ष प्राणी है वा अप्राणी?

प्राणी तथा अप्राणी को आप क्या परिभाषा (लक्षण) करते हैं? एक और बात आपके इस लेख में विचित्र है—जड सृष्टि की उत्पत्ति आदि में प्राण साधन (करण) का परमात्मा निमित्त (कर्त्ता) था परन्तु प्राणी सृष्टि की उत्पत्ति आदि में प्राण साधनों का निमित्त परमात्मा न होकर परमात्मा की शक्ति निमित्त (कर्त्री) बन गई। परमात्मा की तथाकथित शक्ति का स्वरूप क्या है? उसको आप द्रव्य मानते हैं? गुण मानते हैं? अथवा कर्म मानते हैं? यदि सब शरीरों में एक ही प्राण आप मानते हैं तो जब एक शरीर उत्पन्न होता है तब उसमें प्राण कहां से आया? अर्थात् उसका प्राण पैदा हुआ वा नहीं? जब वह शरीर नष्ट होगया तब उसका प्राण नष्ट हुआ वा नहीं? इस प्रकार एक ही प्राण के मानने पर समस्त शरीरों की व्यवस्था कैसे होगी? अर्थात् जीवन मरण की व्यवस्था एक ही प्राण के मानने पर नहीं बन सकती।

इसलिये यही मानना समुचित है कि—प्रत्येक प्राणी के शरीर में इन्द्रियों आदि के समान उनके प्राण भी अलग २ हैं और वे उनके साथ रहते हैं।

जो चेतन (प्राणियों) की व्यवस्था है वही जड (वृक्षादि स्थावर) की व्यवस्था है।

प्रत्येक वृक्षादि में भी पांच प्राण भिन्न २ हैं; एक सामान्य प्राण नहीं है। एक ही सामान्य संज्ञकप्राण के समस्त वृक्षादि में मानने पर यहां भी पूर्वोक्त सभी दोष प्राप्त होंगे।

पृष्ठ ५४ पंक्ति ६-१२ पर लिखते हैं—

'तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः। (अथर्व० १०-२-२७) अर्थात् प्राण के सहारे ही सिर अन्न और मन सुरक्षित हैं। यहां प्राण सामान्य और

विशेष दोनों प्राणों का वाचक है।'

समीक्षा—सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार से है—

'तद्वा अथर्वण: शिरो देवकोश: समुब्जित: ।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मन: ॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (अथर्वण:) प्रजापति परमात्मा का निर्मित अथवा प्रजापति जीवात्मा का (तत् शिर:) वह शिर ही (देवकोश:) इन्द्रियों का निवासस्थान वा भाण्डागार (समुब्जित:) समुचित रूप से बनाया हुवा है। (तत् शिर:) देवकोश रूपी उस शिर को (प्राण: अभिरक्षति) जीवन वायु सब प्रकार से रक्षा करता है (अन्नम्) अन्न सात्विक आहार (अथो मन:) और मन=अन्त:करण भी उसकी रक्षा करता है।

प्रथम पाद में प्रजापति (जीवात्मा) के जिस देवकोश शिर का वर्णन किया था उत्तरार्ध में उसी के तीन रक्षक बताये हैं एक प्राण, दूसरा सात्विक आहार (खान पान) और तीसरा शुद्ध अन्त:करण। परन्तु आपने प्राण को ही शिर के साथ अन्न का और मन का भी रक्षक बताया है। आपका ऐसा कथन प्रकरणानुसार नहीं तथा शास्त्रविरुद्ध भी है। प्रकरण देवकोश का था, प्राण किस २ की रक्षा करते हैं वा प्राण की महिमा का प्रकरण नहीं था। तथा मंत्रस्थ 'अथो' अव्यय से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि ये तीनों ही शिर के रक्षक हैं। आपके मतानुसार क्या प्राण इन तीनों का ही रक्षक है? तथा शिर के साथ अन्य शरीरावयवों का, जिनका रक्षक प्राण है, उनका निर्देश न करके अन्न का निर्देश करने की क्या आवश्यकता थी?

आपके अर्थ में शास्त्रविरोध इस प्रकार से है—

सांख्यदर्शन में कहा है—'सामान्या करणवृत्ति: प्राणाद्या वायव: पञ्च'।

(सांख्य॰अ॰ २ सूत्र ३१)

'समस्तेन्द्रियवृत्ति: प्राणादिलक्षणा जीवनम्' योगपाद ३-सूत्र ३९ के व्यास-भाष्य का पाठ।

प्राण अपान व्यान समान उदान ये पंच प्राण वायुरूप हैं। पांचों प्राण समस्त कारणों का साधारण व्यापार है। करण तेरह हैं। ग्यारह इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां और मन) अहंकार और बुद्धि। इन सबका अस्तित्व प्राणों का प्रयोजक होने से प्राण इन सबका व्यापार माना गया है। यदि दो-एक का वा अधिक का भी अस्तित्व न रहे तो कुछ करणों के अस्तित्व में भी प्राणव्यापार बराबर चलता रहता है।

करणों के दो व्यापार माने हैं, एक असाधारण दूसरा साधारण। असाधारण व्यापार सबका अपना २ निजी कार्य है जैसे आंख का देखना, कान का सुनना, मन का संकल्प विकल्प करना, वाक् का बोलना आदि। जीवनानुकूल प्राणवृत्ति समस्त करणों की सामान्य वृत्ति (व्यापार=कार्य) है।

इससे सिद्ध है कि प्राण मन का अभिरक्षक नहीं किन्तु मन ही प्राण का अभिरक्षक है।

इसलिये प्राण को मन का आधार मानना आपकी भ्रान्ति है। ऐसा मान कर वृक्षादि में मन आदि का असाधारण व्यापार न होने से जीव का निषेध भी आपका अयुक्त है।

वृक्षादि स्थावरों में सूक्ष्म शरीर सहित जीव मालिक (अधिष्ठाता) रूप से विद्यमान रहता है। उसके अधिष्ठातृत्व में मनुष्यादि प्राणी देहों में सुषुप्ति के समान, वृक्षादि में भी प्राणादि रूप जीवन होता है। जीव के निकल जाने पर मनुष्यादि के समान वृक्षादि में भी जीवन नहीं रहता यह व्यवस्था समुचित है।

आपकी यह मान्यता कि मनुष्यादि प्राणियों में विशेष प्राण द्वारा, वृक्षादि में सामान्य प्राण द्वारा ईश्वर के निमित्त से जीवन प्राप्त होता है, जीव की प्राणों के वा जीवन के होने में कोई कारणता नहीं, यह सब कोरी कल्पना ही है इसमें कोई प्रमाण नहीं।

माननीय पण्डित जी ने अपने पूर्वोक्त मत की पुष्टि के लिए—

'अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनाम्'

अथर्ववेद का यह मन्त्र भाग भी प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया है। इस को भी परीक्षा कर लेते हैं। (परीक्षा कर लेनी चाहिये)

सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार से है—

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात्।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥

(अथ॰ ८-९-९)

पदार्थ—(अप्राणा) अविद्यमाना: प्राणा यस्या: सा; प्राणशब्देन अत्र बुद्धिर्मन: पंचज्ञानेन्द्रियाणि, प्राणापानादय: पंच वायवश्च ग्राह्या:। (ऐति) जानाति (प्राणेन) प्राणम्, द्वितीयार्थे तृतीया विभक्ति: प्राणं बुद्धयादय: तत्कार्यं निश्चयादिकम् अत्र प्राणशब्देन ग्राह्यम्। (प्राणतीनाम्) प्राणती प्रजा मनुष्य-पश्वादय: प्राणिन: तेषाम् इति सम्बन्धे षष्ठी। (विराट्) विविधं नाम चराचरं

जगत् राजयते प्रकाशयति, विशेषेण राजते वा विराट् परमेश्वरः (स्वराजम्) स्वयं राजते स सर्वशक्तिमान् न्यायकर्ता जगदीश्वरः तम् (अभि) आभिमुख्ये सर्वतो-भावे वा (एति) प्राप्नोति (पश्चात्) अन्ते परिणामकाले (विश्वम्) सम्पूर्णं सर्वं जगत् (मृशन्तीम्) स्पृशन्तीं संचालयित्रीम् (अभिरूपाम्) अभितः सर्वतो रोचमानां दीप्ताम्। (विराजम्) विराट्संज्ञकं जगदीश्वरम् (पश्यन्ति) जानन्ति ज्ञातुमर्हन्ति (त्वे एके मनुष्याः (न) निषेधे (त्वे) इतरे पश्वादयः नास्तिका वा (पश्यन्ति) विजानन्ति (एनाम्) पूर्वोक्तां सर्वत्र परिपूर्णां व्याप्ताम्।

अन्वयः— अप्राणा विराट् प्राणतीनां प्राणेन एति, पश्चात् स्वराजम् अभि एति, विश्वं मृशन्तीम् ऐनां विराजं त्वे पश्यन्ति, त्वे न पश्यन्ति।

अन्वयार्थ—(अप्राणा) प्राणादि साधनों से रहित (विराट्) सर्वज्ञ ईश्वर (प्राणतीनाम्) मनुष्यादि प्राणियों के (प्राणेन) अन्तःकरण और इन्द्रियों के तथा प्राणादि के कार्य को (एति) अपनी सर्वज्ञता से जानता है। जैसा २ मनुष्यादि प्राणी अपनी बुद्धि आदि से तत्तत् कार्य करते हैं वैसा ही ईश्वर अपनी सर्वज्ञता से ठीक २ जानता है। अथवा (प्राणेन एति) 'प्राणेन सह गच्छति' अर्थात् ईश्वर की सर्वज्ञता प्राणियों के ज्ञान कर्मादि के साथ २ चलती है अर्थात् तदनुसार ही जानती है, उसके विपरीत नहीं। (पश्चात्) मनुष्यादि के कर्म करने के बाद उसका फल देने के समय वह सर्वज्ञता (स्वराजम् अभि एति) कर्मानुसार फलदात्री स्वन्यायशक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। (विश्वं मृशन्तीम्) सबका संचालन करनेवाली (अभिरूपाम्) न्याय रूप में कठोर प्रतीत होनेवाली भी परिणाम में कमनीय (एनाम् विराजम्) इस विराट् संज्ञक ईश्वर को (त्वे पश्यन्ति) कुछ ज्ञान विज्ञान विवेक सम्पन्न मनुष्य जानते हैं वा जान सकते हैं। (त्वे न पश्यन्ति) कुछ प्राणी पशु आदि नहीं जान सकते। तथा मनुष्यों में भी जो धर्मात्मा जितेन्द्रिय ईश्वरभक्त योगी जन हैं वे ही उसे मानते जानते तथा प्राप्त करते हैं। इतर अधर्मात्मा विचार शून्य विषयासक्त मनुष्य उसको नहीं जानते हैं।

भावार्थ—इस मंत्र में ईश्वर को 'अप्राणा' कहने का यह अभिप्राय है कि जीवात्मा तो अपने कर्तव्य कर्मादि को अन्तःकरणादि साधनों के द्वारा ही जानता करता और कर सकता है, बिना साधनों के नहीं (जब तक मुक्त नहीं हो जाता) किन्तु परमात्मा को अन्तःकरणादि साधनों की आवश्यकता नहीं वह स्वयं सर्वशक्ति स्वरूप है।

जीवात्मा अपने प्राणादि (अन्तःकरणादि) साधनों से स्वतन्त्रता से जैसा करता है ईश्वर अपनी सर्वज्ञता से वैसा ही जानता है। परन्तु फल प्राप्तिकाल में जीव ईश्वर की व्यवस्था में बन्ध जाता है अर्थात् किस कर्म का फल किस समय कितना किस रूप में प्राप्त होना है यह ईश्वराधीन है उसमें जीव का दखल नहीं। जीव अपनी योगाभ्यासजनित बुद्धि से उस प्राप्त फल को व प्राप्यमाण फल के एक देश (कुछ भाग) को ही अनुमान से जान सकता है। उसको ईश्वर की व्यवस्था के विपरीत परिवर्तित (बदलना) नहीं कर सकता।

सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ ईश्वर की न्याय शक्ति सब जगत् का संचालन करती है। वह न्यायकारी होते हुए भी दयालु है सबका हित चाहता है, किसी को निष्कारण सुख दुःख आदि नहीं देता।

पुनश्च माननीय पंडित जी अपने पूर्वोक्त मत की पुष्टि के लिये अथर्व० काण्ड ७ सूक्त ५३ मंत्र २,३,४ को प्रस्तुत करते हैं तथा स्व बुद्धि के अनुसार उनका भावार्थ भी किया है। प्रथम मन्त्र के भावार्थ में आप लिखते हैं—

'हे जीव ! सयुज के समान तेरे साथ प्राण अपान रहें।'

समीक्षा—प्रथम तो आपका यहां जीव को सम्बोधन करना अयुक्त है क्योंकि वेद में मनुष्य का ही अधिकार है। अन्य प्राणी वेद की वाणी को समझाने पर भी नहीं समझ सकते, इसलिये मनुष्य को सम्बोधन करना उचित था। पशु पक्षी आदि में भी जीवात्मा है क्या आपके कथनानुसार उनके प्रति भी यह सम्बोधन हो सकता है ? तथा 'सयुज के समान' यह भाव आपने कौन से पदों से ग्रहण किया है ? सयुज शब्द साधारण बोल चाल की भाषा में प्रसिद्ध नहीं है इसलिये इसका अर्थ वा पर्याय दूसरा शब्द आपको देना चाहिये था।

मंत्र में 'सयुजौ' पद प्राणापान का विशेषण रूप से पठित है जिसका अर्थ='परस्पर सम्बद्धौ' अर्थात् 'आपस में संयुक्त' ऐसा होता है। 'सयुज के समान' यहां आपने 'समान' अर्थ मन्त्र के कौन से शब्द से ग्रहण किया ? समान अर्थ को बतलानेवाला कोई पद मंत्र में नहीं है। शायद मन्त्रस्थ 'सयुजाविह' इस पाठ को भ्रम से 'सयुजाविव' समझकर सयुज के समान लिख दिया दीखता है। इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र के भावार्थ में आप लिखते हैं—"……मृत्यु के कारण तेरा शरीर भी अन्त्येष्टि में जल गया था' यह भाव आपने कौन से पदों से निकाला है यह समझ में नहीं आया। तथा यह भाव निकालना भी अयुक्त है क्योंकि मनुष्य मात्र का शरीर अग्नि में नहीं जलाया जाता अपितु अनेक प्रकार से शरीरों का विनाश देखने में आता है।

तीनों मन्त्रों के भाव के बाद आप लिखते हैं—

'जीव के जन्म मरण का हेतु प्राणापान ही है' 'प्राणापान का रहना जीव
और प्राणापान का निकलना ही मृत्यु है।'

समीक्षा—जीव का जन्म मरण नहीं होता अपितु शरीर आदि क
होता है।

मान्यवर पण्डित जी ! विद्वज्जन विषय के अनुरूप ही भाषा प्रयुक्त करते
है। आपने दार्शनिक विषय पर लेखनी उठाई है तो भाषा भी तदनुरूप ही होनी
चाहिये।

'प्राणापान का रहना जीवन और प्राणापान का निकलना ही मृत्यु है।
यहां आप 'जीवन' शब्द का क्या अर्थ लेते हैं ? यह स्पष्ट होना चाहिये क्योंकि
'जीवन' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। दार्शनिक भाषा में जन्म का लक्षण-

'अपूर्वाभिर्देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिरभिसम्बन्धो जन्म।'
(इति सांख्यतत्त्वकोमुद्यां वाचस्पतिमिश्राः)
'जन्म पुनः देहेन्द्रियबुद्धिवेदनानां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः'
(न्यायवात्स्यायनभाष्ये १-१-२ सूत्रं)

तथा—

'पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः' (न्या० वा० भाष्ये १-१-१९ सूत्रे)।

पूर्वोक्त वाक्यों का भाव यही है कि—जीवात्मा का देहादि के सा
सम्बन्ध होने का नाम जन्म तथा उनसे वियुक्त होने को मृत्यु कहते हैं। इसलि
आपने जो जन्म-मरण की परिभाषा लिखी है वह ठीक नहीं। यदि 'आयुर्वै घृत
'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः' इत्यादि वाक्यों के समान भाक्त प्रयोग समझ क
आपके वाक्य की भी संगति लगाई जावे तो इस वाक्य में पुनरुक्ति दोष आ
है क्योंकि इससे पूर्व वाक्य में इसका कथन हो चुका है। तथा यहां (इस वाक्य
में गौण अर्थ न लेकर मुख्यार्थ का ग्रहण करें तो 'वदतो व्याघात' दो
आता है।

आगे आपने अथर्व० काण्ड ३ सूक्त ३१ मंत्र ८-९ के अर्ध २ भाग को स्व
की पुष्टि में प्रस्तुत किया है। जिनका अर्थ लिखा जाता है उससे स्पष्ट
जावेगा कि वे मन्त्र कहां तक आपके मत की पुष्टि करते हैं—

१—'आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः।'

अर्थ—आचार्य स्वशिष्य को उपदेश देता है—

हे ब्रह्मचारिन् बालक ! तू (आयुष्मताम्) नियमित आहार विहार
ब्रह्मचर्य व योगाभ्यासादि साधनों से जिन्होंने प्रशस्त दीर्घ आयु प्राप्त करली
ऐसे मनस्वी सद्गृहस्थ और संन्यासियों के तथा (आयुष्कृताम्) ब्रह्मचर्यानुष्ठ

से श्रेष्ठ (उत्तम) जीवन का निर्माण करनेवाले वसु रुद्र आदित्य ब्रह्मचारियों के (प्राणेन) बुद्धि अर्थात् निश्चय के अनुसार (जीव) प्राण धारण कर अर्थात् समस्त इन्द्रियों का संचालन कर अथवा प्रशस्त (उत्तम) जीवन को प्राप्त कर (मा मृथाः) नियम भंग से अपमृत्यु को प्राप्त मत हो।

२—'प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः।'

अर्थ—आचार्य उपदेश करता है हे बालक ! वा शिष्य ! तू (प्राणताम्) प्राणियों में विशिष्ट बुद्धि अर्थात् ज्ञानवाले विद्वानों के (प्राणेन) बल पराक्रम वा बुद्धि (ज्ञान) के धारण करने से (जीव) उत्तम जीवन बना। (इह एव भव) इस ब्रह्मचर्याश्रम काल में दृढता से नियम पालन में स्थिर रह। (मा मृथाः) नियमों को भंग करके अपमृत्यु को मत प्राप्त हो। इसके आगे स्व मत की पुष्टि के लिये अथर्व० का० ३ सूक्त-११ मंत्र ५-६ प्रस्तुत किये हैं। पाठकों की जानकारी के लिये उनको भी अर्थसहित नीचे लिखा जाता है जिससे पाठकगण जान जावेंगे कि ये मन्त्र क्या कहते हैं।

१—प्रविशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितान्छतम्॥
(अथर्व० ३-११-५)

अर्थ—यक्ष्मारोग से मुक्त (छूटे) हुए इस मनुष्य के शरीर में (अनड्वाहौ व्रजम् इव) यथा भारवाही बैल भार उतर जाने से आश्वस्त होकर गोशाला में प्रवेश करते हैं उसी प्रकार प्राणापानौ प्रविशताम्) प्राण अपान आदि उत्तम रीति से स्वकार्य करें। जिससे (अन्ये मृत्यवः) दूसरे रोग भी जो अपमृत्यु के हेतु हैं। (यान् इतरान् शतम् आहुः) जिन रोगों के सैकड़ों भेद विद्वानों ने बताये हैं वे भी (वियन्तु) इस शरीर से दूर रहें।

भावार्थ—रोग से मुक्त हुये मनुष्य को आहार विहार इस प्रकार करना चाहिये कि जिससे बल पराक्रम बढता रहे, और कोई भी व्याधि शरीर में न आने पावे।

२—इहैव स्तं प्राणापानौ मापगातामितो युवम्।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः॥
(अथर्व० ३-११-६)

अर्थ—(युवम्) ये दोनों (प्राणापानौ) प्राण और अपान (इह एव स्तम्) रोग रहित मनुष्य के शरीर में अपना कार्य भली प्रकार करते रहें तथा (इतः मा अपगाताम्) इस शरीर से पृथक् न होवें, ऐसा व्यवहार स्वस्थ

मनुष्य को करना चाहिये। (अस्य शरीरम् अंगानि) इसके शरीर को तथा अंग प्रत्यंगों को (जरसे पुनः वहतम्) वृद्धावस्थापर्यन्त अर्थात् पूर्ण आयु की प्राप्ति के लिये भली प्रकार धारण पोषण करते रहें।

भावार्थ—मनुष्यों को नियम पालन द्वारा बल पराक्रम बढाकर पथ्य सेवन से रोग रहित होकर दीर्घ जीवन प्राप्त करना चाहिये।

इन सब मन्त्रों के बाद पृष्ठ ५६ पंक्ति २१-२४ में आप अपना निष्कर्ष लिखते हैं—

'इन्हीं प्रमाणों से प्राण तथा जीव शब्दों को पर्यायवाची मानने का भी निषेध हो जाता है।

अतः इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि वृक्ष मनुष्यादि के समान सजीव प्राणी नहीं है अपितु प्राणी होता हुआ भी है निर्जीव ही।

समीक्षा—प्राण और जीव शब्दों को पर्यायवाची कौन मानता है? 'वृक्षों में जीव है' ऐसा माननेवाले भी प्राण और जीव शब्दों को पर्याय नहीं समझते।

वेद में सब शब्द यौगिक हैं इसलिये प्राण शब्द ईश्वर का भी वाचक हो सकता है। आप प्राण का अर्थ केवल वायु विशेष ही करते हैं वा मानते हैं, यह आपका भ्रम है क्योंकि प्राण नाम इन्द्रिय, अन्तःकरण, शरीरस्थ पंच (वा दश) वायुओं का तथा ब्रह्माण्डस्थ सूक्ष्म सूत्रात्मा रूप वायु विशेष का भी है। प्रकरण के अनुसार जो अर्थ जहां ग्राह्य हो वह ग्रहण करना चाहिये।

आपका वृक्ष को 'प्राणी' लिखना वा मानना अशुद्ध है। क्योंकि प्राणी और चेतन शब्द पर्यायवाची हैं तथा अप्राणी और जड शब्द भी पर्यायवाची हैं। जो प्राणी है वह निर्जीव नहीं होता; जो निर्जीव है वह प्राणी नहीं है। जो प्राणी है वह सजीव है।

ज्ञानादि गुणों से रहित को जड कहते हैं इसलिये जड अर्थात् अप्राणी के दो भेद हैं। सजीव और निर्जीव। स्थावर वृक्षादि जड सजीव हैं, किन्तु पृथिवी आदि जड निर्जीव हैं। ऐसा ऋषियों का मत है।

पृष्ठ ५७ पर निम्नलिखित मन्त्र उपस्थित करते हुए आप लिखते हैं—

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥
(अथर्व० ८-२-६)

पता नहीं उक्त पण्डित (गणपति शर्मा) जी ने यह मन्त्र वृक्षों के सजीव

होने में कैसे उपस्थित कर दिया। जब कि इस मन्त्र में इस बात की गन्ध तक भी नहीं। इत्यादि।

समीक्षा—पण्डित गणपति शर्मा जी ने तो उचित रूप से ही उक्त मंत्र को प्रस्तुत किया है परन्तु आप जैसे विज्ञ भी जान बूझ कर अनजान बनें तो क्या किया जावे।

पूर्वोक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

भिषक् (वैद्य) कहता है (अस्मै) इस रोगी मनुष्य के (अरिष्टतातये) रोग निवारणार्थ अर्थात् स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए (इह) इस रोग विशेष की अवस्था में (जीवलाम्) जीवयुक्त वा जीवनप्रद (न घारिषाम्) कोई पीडा न होने देनेवाली (जीवन्तीम्) सजीव वा चैतन्य देनेवाली (त्रायमाणाम्) उपद्रवों से बचानेवाली (सहमानाम्) शक्तिप्रद अथवा सर्दी गर्मी आदि दैवी आपत्ति को सहन करने की शक्ति देनेवाली (सहस्वतीम्) पराक्रमयुक्त वा पराक्रम (वीर्य) वर्धक (ओषधीम्) औषध को (अहं हुवे) मैं वैद्य (उपचारकर्ता) प्रयुक्त करता हूं।

इसी प्रकार का इसी काण्ड के सातवें सूक्त का छठा मंत्र है। यथा—

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥

पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों में रोगविशेषों में प्रयुक्त की जानेवाली ओषधि के दो विशेषण—'जीवला और जीवन्ती' विचारणीय हैं।

जीवला = जीव शब्द से मत्वर्थीय लच् प्रत्यय (सिध्मादिभ्यश्च ५-२-९७) तथा स्त्रीलिंग में 'टाप्' प्रत्यय करने पर बनता है। 'जीवोऽस्यामस्तीति जीवला' जीववाली अर्थ सिद्ध होता है। तथा जीव कर्म उपपद पूर्वक 'ला आदाने' (दाने वा) धातु से (आतोऽनुपसर्गे कः ३-२-३) क प्रत्यय कर 'टाप्', 'जीव लातीति जीवला' अर्थात् जीवन, बल पराक्रम को देनेवाली, अर्थ सिद्ध होता है।

जीवन्ती = 'जीव प्राणधारणे' धातु से औणादिक 'झच्' प्रत्यय, उसको षिद्भाव करने से स्त्रीलिंग में 'ङीष्' प्रत्यय, तथा 'झ' को अन्त आदेश होने पर 'जीवन्ती' शब्द बनता है। अथवा 'जीव्' धातु से लट्-शतृ-शप् और नुमागम करके ङीप् करने पर भी 'जीवन्ती' बन सकता है।

जिसके अर्थ—जीववाली, जीवनवाली, प्राणवाली, प्राणप्रद, बलवीर्यप्रद, आदि सिद्ध होते हैं।

इन सब अर्थों को दृष्टि से ओझल करके आपका 'इस बात की गन्ध तक

भी नहीं ऐसा लेख कहां तक न्यायसंगत है यह बुद्धिमान् जन स्वयं ही समझलें।

वेद में सब शब्द यौगिक ही होते हैं लोक में विशेषकर रूढि तथा योगरूढि आदि भी होते हैं।

पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों में आये हुये पद मन्त्रोक्त 'ओषधी' पद के विशेषण हैं। लोक में इन नामों की ओषधियां भी हो सकती हैं वा हों तो भी इससे वेद की यौगिकता पर कोई आंच नहीं आसकती।

भावप्रकाश आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों में 'जीवन्ती' नामक ओषधि का वर्णन आता है इसलिये वही जीवन्ती इन मन्त्रों में कही गई है। यह बात आपको अमान्य है। यदि आपकी बात मानकर इसी प्रकार लौकिक ग्रन्थों के अनुसार वेद के पदों का अर्थ किया जावेगा तो—

'तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीत्' (अथर्व० कां० ८।१०।[४]।२)

'तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्' (अथर्व० कां० ८।१०।[४]।१०)

यहां पर भी 'प्रह्लादि' प्रह्लाद का पुत्र विरोचन जो पुराणों में प्रसिद्ध है ग्रहण कर लीजिये। विवस्वान् का पुत्र मनु राजा जो इतिहास में प्रसिद्ध है ग्रहण करने लगें तो अर्थ का अनर्थ हो जावेगा।

इसी प्रकार भावप्रकाश की जीवन्ती को वेद पर थोपना ठीक नहीं। भिन्न २ देशों में एक ही ओषधि के अलग २ नाम हो सकते हैं तथा एक नाम भिन्न २ ओषधियों का भी हो सकता है। वेदार्थ करने में शब्दों के लौकिक नियम को वेद में लागू करने से अर्थ का अनर्थ हो जावेगा।

एक ओषधि में अनेक गुण होते हैं इसलिये वेद में एक ओषधि के अनेक विशेषण देना अनुचित नहीं है अपितु उचित ही है।

पृष्ठ ५७ पंक्ति १४-१६ में आप लिखते हैं—

''जीवला' शब्द का अर्थ है यक्ष्मा के रोगी में जीवन संचार कर देने वाली।' 'जीवन्ती' शब्द के सम्बन्ध में मैं कह चुका हूँ कि यह ओषधि का नाम है।'

समीक्षा—'जीवला' पद का अर्थ आपका एक देश में ठीक है परन्तु 'जीवोऽस्यामस्तीति जीवला' इस विग्रह के अनुसार जो अर्थ सिद्ध होता है उसका खण्डन कैसे कर सकते हैं। तथा 'जीवन्ती' पद को आपने रूढि मान लिया है किन्तु इससे कार्य नहीं चलेगा आपको इसका भी निर्वचन वा विग्रह विशेष करना ही होगा क्योंकि वेद में प्रत्येक शब्द यौगिक है रूढि नहीं।

निरुक्ति के अनुसार कुछ भी अर्थ करें—आप जीव का सम्बन्ध ओषधि से नहीं हटा सकते। 'जीवला' और 'जीवन्ती' पदों का एक ही ओषधि का विशेषण होना आपके लिये 'उभयतोपाशा रज्जू' के समान है। पूर्वाग्रह को त्यागकर यदि आप विचार करेंगे तो ओषधि आदि में भी जीव को स्वीकार करेंगे, ऐसा मेरा विचार है। जब आप वृक्षादि में प्राण अपान को स्वीकार करते हैं तो जीव भी उनमें स्वीकार करना चाहिये क्योंकि जीव के लिंगों में इनकी भी गणना है।

जहां प्राणादि हैं वहां जीवात्मा है। जहां जीवात्मा का अभाव है वहां प्राणादि का भी अभाव है, जैसे पृथिवी आदि। इस प्रकार आप द्वारा इस प्रकरण में प्रस्तुत मन्त्रों में से एक भी ऐसा नहीं जो सिद्ध करता हो कि वृक्षों में जीव नहीं है।

इसके आगे आपने वनस्पति वर्ग को जड होने से भक्ष्य बताया है तथा इसके लिये तीन वेद मन्त्र भी प्रस्तुत किये हैं। इससे हम सहमत हैं। किन्तु आपका यह लिखना कि—"माता पिता शब्दों का व्यवहार (प्रयोग) प्राणियों में ही होता है। जौ को जौ का न बाप कहा जाता है और न मटर को मटर की मां।" इस कथन से हम सहमत नहीं हैं। क्योंकि वेद में जड वस्तुओं के लिये भी माता पिता शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। यथा—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' 'आपोऽस्मान्मातरः शुन्धयन्तु' 'यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव' (अथर्व०) इत्यादि।

श्री महर्षि दयानन्द जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृथिव्यादि लोक भ्रमण विषय में "आयं गौः पृश्निरक्रमीत्०' इस मन्त्र का अर्थ करते हुए जल को पृथिवी की माता तथा सूर्य को उसका पिता कहा है। इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता, चन्द्रमा का अग्नि पिता जल माता (है)। क्योंकि "यो यस्माज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद्भवति।" इस प्रकार लिखा है।

इसलिये जौ (बीज रूप) को जौ (पौधे) का उत्पादक होने से जनक (बाप) कह सकते हैं। तथा मटर (बीज) को मटर (पौदे) का उत्पादक होने से जनक (बाप) और भूमि को सबकी मां कह सकते हैं। इसमें क्या दोष है?

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ८ मन्त्र ११ में जगत् के तीन भेद वर्णन किये हैं—

ओम् यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणद् अप्राणन् निमिषच्च यद् भुवत्।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् सम्भूय भवत्येकमेव॥

अर्थ—(यद् प्राणद् एजति) जो प्राणी जगत् (मनुष्य पशु आदि) इधर उधर चेष्टा करता है। (यद् अप्राणात् पतति) जो अप्राणी अर्थात् पृथिवी आदि परमाणु पर्यन्त जड जगत् गमन (स्पन्दन) करता है (यत् निमिषत् तिष्ठति) जो शयन करनेवाले स्थावर जड जगत् गतिनिवृत्त है। (च यत् भुवत्) और (जो ज्ञान स्वरूप मुक्तात्मा ब्रह्मलोक में विराजमान है उस सबको तथा (विश्वरूपम् पृथिवीम्) नाना रूपवाले विस्तृत जगत् को (तद् दाधार) वह सर्वव्यापक ब्रह्म धारण कर रहा है। अथवा (विश्वरूपं तत् दाधार) सम्पूर्ण पदार्थों की आकृतियाँ है जिसमें ऐसा वह ब्रह्म सब को धारण कर रहा है। (तत्) विस्तृत अर्थात् सर्गावस्था में स्थूल रूप को प्राप्त वह जगत् (सम्भूय) प्रलयकाल में स्व स्व कारण में मिलकर (एकमेव भवति) एकाकार अर्थात् प्रकृति रूप ही हो जाता है।

इस मन्त्र में अप्राणी (जड) जगत् के दोनों भेद पृथक् २ निर्दिष्ट हैं। एक पृथिवी आदि जड जगत् जिसमें प्राणों (सप्त प्राण=बुद्धि मन ज्ञानेन्द्रियों) का अत्यन्ताभाव है। दूसरा स्थावर वृक्षादि जड जगत् जिसमें प्राणों की उन्मेष अवस्था (प्रबोध) न होकर निमेषावस्था है। निमेष के बाद उन्मेष अवश्य होगा तथा निमेष से पूर्व भी उन्मेष था, अतः निमेष उन्मेष (शयन प्रबोध) वाला होने से वह जीव सहित है।

ऐतरेयारण्यक के आरण्यक २, अध्याय ३, खण्ड २(१४) में लिखा है—

"ओषधिवनस्पतयो यच्च किञ्च प्राणभृत् स आत्मानम् आविस्तरां वेद, ओषधिवनस्पतिषु हि रसो दृश्यते, चित्तं प्राणभृत्सु इति। प्राणभृत्सु त्वेवाविस्तरामात्मा, तेषु हि रसो दृश्यते न चित्तमितरेषु, इति।

पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति, विज्ञातं पश्यति, वेद श्वस्तनं, वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सत्येवं सम्पन्नः, इति।

अथेतरेषां पशूनामशनापिपासे एवाभिविज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदुः श्वस्तनं न लोकालोकौ त एतावन्तो भवन्ति यथाप्रज्ञं हि सम्भवाः, इति।

भावार्थ—इस खण्ड में यह दर्शाया गया है कि जीव कहां २ है और उनमें जीव होने की क्या पहचान है। ओषधि वनस्पति आदि में प्राणापान आदि के कारण रसाभिसरण रूप कार्य दीखता है जो आत्मा का लिङ्ग

(पहचान) है। प्राणियों में रसाभिसरण (रुधिराभिसरण) के साथ मन (अन्तःकरण) का कार्य भी दीखता है।

पशु आदि प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में आत्मा लिङ्गों से प्रकटतर है। मनुष्य में मनस्विता (विवेक विज्ञान) है वह अपने ज्ञान को वाणी द्वारा दूसरों पर प्रकाशित कर सकता है। आगामी काल के लिए त्रैवार्षिक पंचवार्षिक आदि योजनाएं बना सकता है। धर्म अधर्म को जानता है। मोक्ष की भी अभिलाषा करता है। किन्तु पशु आदि प्राणी को अपने जीवन निर्वाह का ही सहज ज्ञान है। वे विवेक (विज्ञान) से अपने ज्ञान को बढ़ा घटा नहीं सकते। स्वहितार्थ मिलकर भविष्यत्कालिक योजनायें नहीं बना सकते, केवल तात्कालिक आवश्यकताओं को ही जानते हैं। अपने मानसिक विचारों को वाणी द्वारा मनुष्यों की तरह प्रकट नहीं कर सकते। धर्म अधर्म का ज्ञान उनमें नहीं है।

इस प्रकार ओषधि वनस्पति, पशु, पक्षी, और मनुष्यों में जीवात्मा अपने लक्षणों से क्रमशः प्रकट प्रकटतर और प्रकटतम है।

इसी प्रकार यजु० अ० १२ मं० ३६-३७ में भी जीव का ओषध्यादि में गति करना और किस प्रकार पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं यह बतलाया गया है। यह महर्षि दयानन्द जी के भाष्य में देख लें। यहां विस्तार भय से नहीं लिखते।

यह पांचवे दिन के सम्वाद की समीक्षा समाप्त हुई।

❀-०-०-❀

छठे दिन के सम्वाद की समीक्षा

मिश्रित प्रमाण भाग

'वृक्ष निर्जीव है' इस विषय में पण्डित जी 'भावप्रकाश' नामक आयुर्वेद के ग्रन्थ का प्रमाण देते है—

भाव प्रकाश सृष्टि प्रकरण श्लोक १२२, १२३ ।

इन श्लोकों से जो भाव आपने निकाला है वह नहीं निकलता क्योंकि इससे पूर्व १२१ वां श्लोक निम्न प्रकार से है—

> एवं चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः सिद्धे वपुर्ग्रहे ।
> जीवात्मनियतेर्निघ्नो वसति स्वान्तदूतवान् ॥१२१॥
> स देही कथ्यते पापपुण्यदुःखसुखादिभिः ।
> व्याप्तो बद्धश्च मनसा कृत्रिमैः कर्मबन्धनैः ॥१२२॥

इन श्लोकों के बाद लिखा है—

> संयोगे ये ये गुणा उत्पद्यन्ते तानाह—
> इच्छाद्वेषसुखासुखानि० ...... ।

यह १२३वां श्लोक है ।

इस श्लोक के बाद ग्रन्थकार ने 'जीवे गुणाः' का अर्थ करते हुये लिखा है-

'मनोयुक्तस्य जीवात्मन एते गुणाः ।

अर्थात् जब जीवात्मा का मन के साथ सम्बन्ध होता है तब ये (इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि) गुण प्रकट होते हैं । अथवा मनोयुक्त जीवात्मा के ये गुण है ।

इसका भाव यह हुआ कि जब आत्मा मन के, मन इन्द्रियों के, इन्द्रियां अपने २ विषय के साथ संयुक्त होती हैं तब रूपादि विषयों का ज्ञान और इच्छादि गुणों का प्रादुर्भाव आत्मा में होता है ।

इन्द्रियां व मन जिन भौतिक साधनों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं वे साधन स्थावर वृक्षादि में नहीं हैं । इसलिए जीवात्मा को बाह्य रूपादि विज्ञान और तज्जन्य सुख दुःखादि कुछ भी प्राप्त नहीं होता ।

वृक्षादि में ज्ञानादि गुणों का अभाव जीवात्मा के अभाव के कारण से नहीं किन्तु पूर्वोक्त 'प्रसिद्ध सम्बन्ध' के अभाव के कारण से है ऐसा समझना चाहिये ।

ज्ञात रहे 'भावप्रकाश' ग्रन्थ के लेखक 'भावमिश्र' हैं, 'वाग्भट्ट' नहीं है । वाग्भट्ट को भावप्रकाश ग्रन्थ का लेखक लिखना आपका एतद्विषयक प्रमाद का सूचक है । 'भावप्रकाश' ग्रन्थकार ऋषि नहीं था, केवल आयुर्वेद का विद्वान् था, उसको ऋषि महर्षि की पदवी से अलंकृत करना एक आर्य विद्वान् को शोभा नहीं देता ।

भावप्रकाशकार वैदिक सिद्धान्तों का ज्ञाता भी नहीं था, उसका ऋषि महर्षि होना तो दूर की बात है ।

उदाहरण के लिए उनका लेख प्रस्तुत करता हूँ—

> १—यदा मत्स्यावतारेण हरिणा वेद उद्धृतः ।
> तदा शेषश्च तत्रैव वेदं साङ्गमवाप्तवान् ॥

श्लोक ५७ से ६३ तक ।

अर्थ— जब विष्णु भगवान् ने मत्स्यावतार धारण करके वेदों का उद्धार किया तब शेष जी (शेषनाग=सर्प विशेष) ने वहीं पर अङ्ग सहित वेद का अध्ययन किया था ।

> २—अपाठयन्मुनिं साङ्गमायुर्वेदं शतक्रतुः ।
> जीवेद् वर्षसहस्राणि देही नीरुङ् निशम्य यम् ॥

पूर्व खण्ड- ५२ ।

अर्थ—इन्द्र ने भारद्वाज मुनि को अङ्गसहित आयुर्वेद शास्त्र पढाया । जिसको हृदयंगम करके मानव हजार वर्ष तक स्वस्थ रहता हुआ जीवित रह सकता है ।

३—एक बार शेष जी भूमि का वृत्तान्त जानने के लिये चर (गुप्तचर) के रूप में स्वर्ग से भूमि पर आये, वहां पर लोगों को रोगों से अत्यन्त दुःख पाते देखा । दयालु अनन्त जी के मन में उनके दुःखों को देखकर करुणभाव पैदा हुआ और मानवों के रोगों को दूर करने का उपाय सोचने लगे । सोच-विचार कर शेष जी ने वेदवेदाङ्गवित् विशुद्ध प्रसिद्ध मुनि के पुत्र रूप में जन्म ग्रहण किया । क्योंकि वे चर के रूप में आए थे किसी को ज्ञात नहीं हुये थे इसलिये

भूतल पर वे चरक नाम से प्रसिद्ध हुवे। इस प्रकार अन्य भो बहुत सी मिथ्या बातें लिखी हैं।

यह है भावप्रकाश ग्रन्थकार का आर्षत्व। इसीलिये महर्षि दयानन्द जी ने अनार्ष ग्रन्थों के पठन पाठन का निषेध किया है। क्योंकि उनके पढ़ने से कोमलमति बालक तथा सृष्टि क्रमादि से अनभिज्ञ बालवत् वर्तमान बड़ी आयु के श्रद्धालु जन भी ऐसी पाखण्डपूर्ण बातों पर विश्वास करके अन्धकूप में गिर सकते हैं। आगे पृष्ठ ६२ पर आप लिखते हैं—

"सजीव मनुष्यों के शरीरों में कुछ अंग अचेतन रहते हैं जो अचेतन रहते हुवे भी बढ़ते रहते हैं। यथा—'शरीरे अचेतनान्यंगान्याह—केशलोमनखाग्रान्त-मलद्रव्यगुणैर्विना' (भाव० गर्भप्र० श्लोक ३७०)।

इस श्लोक से यह सिद्ध होगया कि (i) जिस प्रकार शरीर में रहनेवाले केशादि को जड़ता उनकी वृद्धि आदि को बाधक नहीं होती, (ii) और किसी वस्तु को वृद्धि उसके सजीव होने का हेतु नहीं हो सकती।" इत्यादि

समीक्षा—मनुष्यों का 'सजीव' विशेषण देना निरर्थक है। क्या निर्जीव भी मनुष्य होते हैं? मनुष्य-देह 'सजीव' 'निर्जीव' होता है। पण्डित जन को वाक्य रचना शुद्ध बनानी चाहिये। आपने इस श्लोक का जो भाव समझ कर जो उक्त निष्कर्ष निकाले हैं वे अयथार्थ हैं (ठीक नहीं हैं)।

वस्तुतः भावप्रकाश में निर्दिष्ट श्लोक मूल रूप से चरक ग्रन्थ का है। वहां पर इस श्लोक का निम्न प्रकार से पाठ है—

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना॥
(चरक शारीरस्थान श्लोक १३५)

भावार्थ—शारीर स्थान के आरम्भ में अग्निवेश जो ने भगवान् आचार्य पुनर्वसु जो से २३ प्रश्न पूछे हैं। उनमें २१ वां प्रश्न है—वेदनाओं का (रोगी के रोगां का अथवा सुख दुःखानुभूति का) अधिष्ठान (आश्रय) क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्वोक्त श्लोक कहा है। अर्थात् वेदनाओं का अधिष्ठान मन तथा चेतन शरीर (जीव रहित शरीर नहीं) है; किन्तु शरीर से सम्बद्ध रहते हुवे भी केशाग्र, लोमाग्र, मूत्र पुरीषादि द्रव्य वेदना के अधिष्ठान नहीं है।

भावप्रकाश में कुछ पाठ की भिन्नता है। यथा—

भावप्रकाश में 'वेदनानाम्' के स्थान पर 'चेतनानाम्' पाठ मिलता है, तथा 'अन्नमलद्रवगुणैर्विना' के स्थान पर 'अन्तर्मलद्रव्यगुणैर्विना' ऐसा पाठभेद है।

भावप्रकाश के पाठानुसार भी 'चेतनानाम्' का अर्थ 'सुख दुःख की अनुभूतियां' ही करना होगा। तथा मूत्र पुरीष आदि शरीरस्थ पदार्थों के लिये अङ्ग शब्द का प्रयोग भी लक्षणया गौण ही मानना पड़ेगा।

प्रश्न- हो सकता है कि जब ये वास्तव में शरीर के अवयव नहीं हैं तथा जीव का इनसे सम्बन्ध भी नहीं है तब ये बढ़ते कैसे हैं?

उत्तर—शरीरगत मल संचय होने से बढ़ते हैं; केश नखाग्रादि भी शरीर गत धातुओं के मल ही है; इनका बढ़ना भी मल का संचयमात्र ही है। क्योंकि केशादि की जड़ (मूल भाग) त्वचा से सम्बद्ध है, त्वचा शरीर का अवयव है, इस प्रकार त्वचा द्वारा धातुमल केश नखादि के रूप में बाहिर होते रहते हैं। एतदाकार मल संचय को ही 'बढ़ना' नाम दे दिया है। त्वचापर्यन्त ही शरीर में चैतन्य है। यह मलों का निष्काशन भी जीव के कारण ही हो रहा है।

आपका यह कथन कि- 'किसी वस्तु की वृद्धि उसके सजीव होने का हेतु नहीं, यह नवीन मत (थ्योरी) आपका निजी है। सभी शास्त्रकार शरीर की वृद्धि का कारण जीवात्मा की विद्यमानता ही स्वीकार करते हैं। जो वस्तु जिस के होने पर हो, और जिसके न होने पर न रहे वह उसी की मानी जाती है। जीवात्मा जब तक शरीर में रहता है तभी तक शरीर में वृद्धि आदि धर्म रहते हैं। उसके शरीर से निकल जाने पर नहीं रहते इसलिए ये सब उसी के द्वारा माने जाते हैं। जब तक जीव की शरीर में विद्यमानता है तभी तक ही शरीर से मलों का निष्कासन व संचय होता है; जीव बिना वह भी बन्द हो जाता है।

पृष्ठ ६२ पंक्ति १५—१६ पर आप लिखते हैं—

'वृद्धि आदि एक प्रकार से परिणाम ही है जो प्राकृतिक वस्तुओं में ही सम्भव है। अप्राकृतिक वस्तुएं तो नित्य होने के कारण स्वयं स्वरूप से अपरिणामी होती हैं। अत एव शरीरस्थ जीव तो स्वयं अपरिणामी ही होता है। परिणाम तो वहां भी शरीर में ही होता है।

समीक्षा—यह लेख यहां पर लिखना निरर्थक है। क्योंकि सर्वतन्त्र सिद्धान्त सबके लिये समान होता है। उससे किसी एक मत का खण्डन नहीं हुवा करता।

यह नियम जिस प्रकार प्राणियों पर घटता है उसी प्रकार स्थावरों पर भी लागू होता है; यहां दोनों का दर्जा समान है। यदि इससे आप स्थावरों (वृक्षादि) में जीवनिषेध करना चाहते हैं तो मनुष्यादि प्राणियों में भी जीव

का अभाव प्राप्त होगा। यदि यह कहो कि वहां हम ज्ञानादि गुणों से सिद्धि कर लेंगे तो उनकी सुषुप्ति अथवा मूर्च्छित अवस्था में उनमें जीव का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहो कि उनके पुन: जागृत वा होश में आने से वहां जीव का अनुमान कर लेंगे। ठीक है जागृत वा होश आने पर आपने अनुमान कर लिया कि इनमें सुषुप्ति व बेहोशी के काल में भी जीव था। परन्तु जब तक सुषुप्ति वा बेहोशी चल रही है तब तक कैसे ज्ञान करोगे कि इनमें जीव है वा नहीं ? तब शरीरस्थ प्राणापान जीवन आदि लिंगों से ही जान सकोगे कि इन में जीव है वा जीव नहीं है।

इसी प्रकार स्थावरों में भी प्राणापान जीव आदि क्रियायें हैं इसलिये जीव इनमें भी है। प्राणियों के समान वृक्षादि में भी जब जीव नहीं रहता तब ये क्रियायें नहीं रहती। यदि यह कहो कि स्थावरों में यदि जीव है तो उन में ज्ञानादि गुण कभी भी प्राणियों के समान प्रकट क्यों नहीं होते ? तो उत्तर पूर्वोक्त ही है कि—वहां प्रसिद्ध सम्बन्ध जीव का ज्ञान करणों के साथ नहीं है। स्थावर वृक्षादि की रचना इस प्रकार की है कि उनमें ज्ञानेन्द्रियों के स्थान विशेषादि ज्ञान के साधनों का निर्माण ही नहीं हुवा है। जिस प्रकार जंगम पशु आदि योनियों के शरीर में चेतन मनुष्य के समान वेद ज्ञान प्राप्त करने के लिये ज्ञान साधनों का अभाव है।

पृष्ठ ६२ पंक्ति १६ पर आप लिखते हैं—

'और यह परिणाम प्राय: मृत्यु के बाद शव में भी होता रहता है।'

समीक्षा—पूज्य पण्डित जी महाराज ! शव में जो परिणाम है वह विकृति (गलना सड़ना) रूप परिणाम है, उससे जीव का अनुमान नहीं होता, किन्तु जहां वृद्धि व भग्न क्षत संरोहण रूप विकासोन्मुख परिणाम होता है उससे ही जीव का अनुमान होता है। वह मनुष्यादि प्राणियों के समान वृक्षादि स्थावरों में भी जीव का अनुमान होता है।

पृष्ठ ६२ पंक्ति २२-२६ तथा पृष्ठ ६३ पंक्ति १-२ पर आप लिखते हैं—

पं०......ऋषि वाग्भट्ट ने अपने इसी ग्रन्थ में आत्मा का निम्न शब्दों में परिचय दिया है—

स एव वेत्ता रसन् द्रष्टा घ्राता स्पृशत्यसौ।
श्रोता वक्ता च कर्त्ता च गन्ता रन्तोत्सृजत्यपि ॥
(भावप्रकाश पूर्वखण्ड प्र० २-३८)

क्योंकि वृक्ष इन सम्पूर्ण ही गुणों से रहित है अत: निर्जीव है।

समीक्षा—ये पूर्वोक्त क्रियायें जब आत्मा से मन का तथा आत्मप्रेरित मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है और इन्द्रियां अपने-अपने विषयों से सम्बन्ध करती हैं तभी होती हैं अन्यथा नहीं। आपके मतानुसार जहां २ ये गुण कर्म नहीं हैं वहां जीव भी नहीं है; यह व्याप्ति बनेगी तब तो स्थावरों के समान प्रसुप्त और मूर्च्छित प्राणी भी जीव रहित प्राप्त होंगे, क्योंकि उनमें भी पूर्वोक्त गुण कर्म नहीं हैं। हमारे मतानुसार तो सर्वत्र (मूर्च्छित, प्रसुप्त और स्थावरों में) प्रसिद्ध सम्बन्ध के अभाव से पूर्वोक्त कर्मादि का अभाव है। वाग्भट्ट जी तो आयुर्वेद के विद्वान् थे, उनका बनाया ग्रन्थ भी 'वाग्भट्ट' नामा ही है भावप्रकाश नहीं। भावमिश्र के समान वाग्भट्ट भी ऋषि नहीं थे।

पृष्ठ ६३ पंक्ति ३-७ पर लिखा है—

'उक्त ऋषि ने अपने इस (भावप्रकाश) ग्रन्थ में वनस्पति वर्ग को मांस वर्ग से बिल्कुल पृथग् रक्खा है। यदि वृक्ष सजीव होते तो उन्हें भी मांस प्रकरण में मछली, भैंस और कछुओं में स्थान मिलता। इससे भी वृक्षों का निर्जीव होना सिद्ध होता है।'

समीक्षा— प्राणी और अप्राणी भेद से जगत् दो प्रकार का है। प्राणी जगत् के भी चेतन और जंगम दो भेद हैं। अप्राणी (जड) जगत् के दो भेद स्थावर वृक्षादि और पृथिव्यादि हैं। पशु पक्षी सरीसृप कीट पतंगादि जंगम प्राणी वर्ग में हैं। स्थावर वृक्षादि अप्राणी वर्ग में है। अत: स्थावरों का वर्णन उससे पृथक् होना ही चाहिये। पृथक् निर्देश से इनका पार्थक्य ही सिद्ध होता है। सजीवता और निर्जीवता तो इससे सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार आगे चलकर इसी पृष्ठ ६३ पर आपने 'भावप्रकाश' ग्रन्थ के अनुसार विष दो प्रकार का अर्थात् स्थावर विष औषध्यादि का जंगम विष सर्पादि का वर्णन किया है। इससे आपका वृक्षों को निर्जीव सिद्ध करना (मानना) अयुक्त है। क्योंकि स्थावर और जंगम दो भिन्न २ जातियां हैं। उनके विषों का भी अलग २ वर्णन करना समुचित है। इससे सजीवता निर्जीवता का कोई सम्बन्ध नहीं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने चरक सुश्रुत आदि ऋषि मुनि प्रणीत ग्रन्थ वेदानुकूल होने से प्रामाणिक व पठनीय स्वीकार किये हैं; उनकी इस विषय में क्या सम्मति है यह भी देखना चाहिये। चरक में जड़, चेतन का लक्षण निम्न प्रकार से किया है—

"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।"
(चरक सूत्रस्थान अ० १ श्लोक ४७)

अर्थ= इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) सहित द्रव्य चेतन होते हैं। निरिन्द्रिय

(ज्ञानेन्द्रियों से रहित) द्रव्य जड़ है। यह लक्षण वैद्यकशास्त्र के सभी ग्रन्थकारों को मान्य है। आपके वाग्भट्ट जी तथा भावमिश्र जी आदि विद्वान् भी चरक को प्रामाणिक मानकर चले है। इससे 'सजीव को चेतन कहते हैं, निर्जीव को जड़ कहते हैं' यह आपका चेतन और जड़ का लक्षण वैद्यकशास्त्र वालों को भी मान्य नहीं है।

प्रश्न—आत्मा ज्ञस्वरूप है तो वह अचेतन (जड़) कैसे हो जाता है?

उत्तर— आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं तस्य प्रवर्तते।
तदयोगाद् अभावाद् वा करणानां निवर्तते॥
(चरक शारीरस्थान अ० १-श्लोक-५४)

अर्थ—आत्मा ज्ञ स्वरूप तो है परन्तु उसको नैमित्तिक ज्ञान करणों से ही होता है। करणों के अभाव में तथा करणों के रहते हुए भी सम्बन्धाभाव में उसको बाह्यज्ञान नहीं होता।

करणों (साधनों) के द्वारा ज्ञान इस प्रकार होता है—

इन्द्रियों का स्व २ विषयों के साथ सन्निकर्ष होने पर, इन्द्रियों के साथ मन का और मन का आत्मा से संयोग होने पर आत्मा को बाह्य पदार्थ ज्ञान होता है। सुषुप्ति आदि में जब यह प्रक्रिया नहीं रहती तब आत्मा बाह्य ज्ञान शून्य हो जाता है। स्थावर वृक्षादि में करणों का अभाव होने से बाह्य ज्ञान का अभाव रहता है। इसलिये वृक्षादि में जीव के विद्यमान रहने पर भी सुषुप्त प्राणी के समान उनको बाह्य सुख दुःखादि का भान नहीं होता। क्योंकि सुख दुःखादि भी नैमित्तिक (बाह्य ज्ञान जन्य) हैं।

लोक व्यवहार का साधक, सर्वाधिक उपयोगी शास्त्र प्राचीन ऋषि मुनि आदि विद्वान् आचार्यों ने मानवधर्म शास्त्र को बताया है। यत्किञ्चिद् मनुरब्रवीत् तद्भेषजं भेषजतायाः' अर्थात् मनु ने जो कुछ कहा है वह परम औषध है। जो अपनी ज्ञान गरिमा के कारण ब्रह्मर्षियों के भी माननीय थे, जिनके प्रमाण अपनी पुस्तकों में महर्षि दयानन्द जी ने सबसे अधिक दिये हैं, जिनको प्रामाणिकता में द्वितीय स्थान दिया गया है, उन राजर्षि मनु के कथन को प्रमत्त गीतवत् बताकर प्रमाण कोटि से इस प्रकार पृथक् कर देना जिस प्रकार भोज्य पदार्थ से मक्खी को निकाल बाहर फेंक देते हैं तथा आयुर्वेद के विद्वान् भावप्रकाशकार को ऋषि महर्षि की पदवी से अलंकृत करके उसके ग्रन्थ को चरक सुश्रुत आदि आर्ष ग्रन्थों से भी ऊपर का दर्जा देना एक आर्य विद्वान् को शोभा नहीं देता। वैसे आप मानने लिखने में स्वतन्त्र हैं जिसको जैसा चाहें समझें,

लिखें, कहें, परन्तु इससे आप आर्य विद्वानों में प्रतिष्ठा का भाजन नहीं हो सकते। स्वमत के पक्षपातवश मनुष्य क्या नहीं कर देते।

'मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्' इत्यादि प्रकरण को आपने असम्बद्धता आदि दोषों के कारण अयुक्त ठहराया है। मनु जी महाराज ने तो स्वमनीषया जैसा ठीक समझा बताया, वा मनुस्मृति में लेखबद्ध किया। स्वामी दयानन्द जी ने उसे समुचित समझ कर सत्यार्थप्रकाश में लिखा और स्वमनीषया उसकी व्याख्या की।

आप भी अपने आपको इस विषय का विशेषज्ञ समझते हैं। कृपया आप भी इस विषय पर मनु की तरह विस्तार से प्रकाश डालें कि ये नाना प्रकार की योनियां किन २ कारणों से मिलती हैं? मन की अवस्था विशेष भिन्न २ योनियों में विभिन्न प्रकार की क्यों हो जाती है? जिस से सर्वसाधारण जन भी लाभ उठा सकें।

'वृक्षों में जीव है' यह सिद्ध करनेवाले छान्दोग्य उपनिषद् के निम्न वचन हैं—

१—अस्य सौम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्, यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्, योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत् स एष जीवेनात्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।' (छा०प्र० ६ खं० ११-१)

अर्थ—हे प्रिय पुत्र (श्वेतकेतु) यदि कोई मनुष्य इस सम्मुख स्थित महान् वृक्ष के मूल में प्रहार (कुठार आदि से आघात) करे तो यह जीता हुवा ही स्रवित होगा, यदि कोई मनुष्य इसके मध्य भाग में कुठार प्रहार करे तब भी यह जीता हुवा स्रवित होगा, और यदि कोई जन इसके अग्रभाग (शिखर) पर कुठाराघात आदि करे तब भी यह जीवित रहता हुवा स्रवित होगा। (अर्थात् जिस प्रकार मनुष्यादि प्राणियों के छुरी आदि लगने से खून स्रवित होता है वे मरते नहीं हैं, उसी प्रकार वृक्षों के भी प्रहार से रसमात्र स्रवित होता है वे मरते नहीं जीवित ही रहते हैं।)

(स एष०) वह यह वृक्ष जीवात्मा के कारण उत्पन्न होता है, जीवात्मा के कारण पेपीयमान है अर्थात् अपने लिये उपयोगी रसों का भूमि से प्रतिक्षण आकर्षण करनेवाला है, और जीवात्मा के कारण ही पल्लवित पुष्पित हुवा हराभरा रहता है। इस स्थल पर 'जीवेनात्मना अनुप्रभूतः' 'जीवेनात्मना पेपीयमानः' 'जीवेनात्मना मोदमानः' वचन विशेष विचारणीय हैं। पूर्वोक्त प्रमाण को झुठलाने का पण्डित जी के पास क्या आश्रय हो सकता है?

२—'अस्य यदेकां शाखां जीवो जहाति अथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहाति सा शुष्यति। तृतीयां जहाति सा शुष्यति। सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति। एवमेव खलु सोम्य विद्धि इति होवाच।' (छा०खं० ६-११-२)

अर्थ—जब जीव इसकी एक शाखा को छोड़ देता है तब वह सूख जाती है। जब दूसरी को छोड़ देता है तो वह भी सूख जाती है, तीसरी को छोड़ देता है तो वह भी सूख जाती है, तथा जब सम्पूर्णवृक्ष शरीर से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है तब सारा वृक्ष ही सूख जाता है। इसी प्रकार हे प्रिय पुत्र (श्वेतकेतु) तुम अपने शरीर के विषय में समझो।

छान्दोग्य उपनिषद् के पूर्वोक्त दोनों प्रमाणों की आलोचना करते हुवे माननीय पण्डित जी लिखते हैं—

"परन्तु उपनिषद् का सिद्धान्त, है युक्तिविरुद्ध ही। क्योंकि जीव शरीर में सर्वत्र अपनी सत्ता से व्याप्त नहीं रहता। अपितु वह एक विशिष्ट स्थान पर स्थित रहकर अपने कार्य करता है। अतः पहले तो उपनिषद् का जीव को वृक्षों में सर्वत्र मानना ही युक्तिविरुद्ध है।"

समीक्षा—उपनिषद् का वचन तो युक्तिविरुद्ध नहीं परन्तु आपकी समझ ही सदोष है। क्योंकि आत्मा के शरीर के एक देश में रहने पर भी आपको भी किसी न किसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर से आत्मा का सम्पर्क स्वीकार करना ही पड़ेगा। अन्यथा शिर में हस्त पाद वा पीठ आदि अवयवों में पीड़ा होने वा कांटा आदि चुभ जाने पर उसके तत्क्षण अनुभव हो जाने को कैसे स्वीकार करोगे। जीवात्मा शरीर में एक स्थान पर स्थित रहता हुवा भी स्वकीय प्राण विद्युत् आदि शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर के वृत्त को जानता है। जब जीवात्मा इन्हीं स्वशक्तियों से सम्पूर्ण शरीर का संचालन करता है। जब अदृष्ट के कारण (जीव के धर्माधर्मवशात्) उन शक्तियों का किसी अंग विशेष से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तब जीवात्मा का भी सम्पर्क उस अङ्ग विशेष से नहीं रहता। यही जीव का उस अङ्ग को छोड़ना कहा जाता है।

जैसे—'प्रति सम्वेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा' यह विदुरनीति का वचन है। इसका अभिप्राय है कि जो राजा शत्रु से युद्ध को तिलाञ्जलि देकर शान्ति का उपासक होजाता है उसकी भूमि (राज्य सीमा) अग्नि में पड़े हुए चर्म के समान चारों तरफ से संकुचित होती जाती है। यहाँ पर विचारणीय है कि भूमि कोई रबड़ तो है नहीं जो सिकुड़ती वा फैलती हो, अतः वक्ता का अभिप्राय यही है कि उसकी राज्यसीमा कम होती जाती है राज्यसीमा कम कैसे होती है? उस भूमि से राजा का सम्पर्क विच्छिन्न होने से सम्पर्क (सम्बन्ध) विच्छेद के अर्थ हैं—उस स्थान पर जो राजा के प्रबन्धक कर्मचारी थे उनका वहां से शत्रु द्वारा खदेड़ दिया जाना वा स्वयं उनका वहां से हट जाना। इसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिये।

वृक्ष शरीरी जीव अपनी प्राण विद्युत् आदि शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण वृक्षावयवों से सम्बद्ध है। जब जिस २ शाखा से उसकी प्राणादि शक्तियों का अदृष्टवशात् सम्बन्धविच्छेद हो जाता है तब जीवात्मा का भी उन शाखाओं से सम्पर्क नहीं रहता, यही जीव का उनको त्यागना (छोड़ना) कहा जाता है।

अन्यच्च 'यथा वा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते' जिस प्रकार युद्ध में हारते जीतते तो सैनिक हैं परन्तु हार जीत का व्यपदेश (कथन) होता है—राजा वा देशवासियों का; जिनका सम्बन्ध उन सैनिकों से होता है। इसी प्रकार यहां (उपनिषद् वचन में) भी जीवात्मा के प्राणादि शक्तियों के सम्बन्ध विच्छेद को ही 'जीवो जहाति' से कहा गया है। उपनिषद्कार के इस भाव को न लेकर (त्यागकर) आपने उसके अभिप्राय से भिन्न अर्थ की स्वमनीषया कल्पना करके खण्डन किया है; इसलिये यह खण्डन न्यायशास्त्र के अनुसार छलदोष में गिना जावेगा।

पुनश्च उसी पृष्ठ ६४ पर आप आगे फरमाते हैं—

दूसरे बहुत से वृक्षों की शाखायें काटकर पृथक् लगाई जाती हैं और वे पृथक् लगकर हरी भरी रहती और फल फूल देती रहती हैं। तो क्या उन काटी गई शाखाओं के साथ भी जीव चला जाता है?

समीक्षा—जिस प्रकार शुक्र जब तक मनुष्य शरीर में रहता है तब तक उसके साथ प्राण आदि का भी सम्बन्ध होने से मनुष्य जीव का भी सम्पर्क उसमें रहता है जब मैथुन कर्म द्वारा स्त्री गर्भाशय में निषिक्त हो जाता है तब मनुष्यस्थ प्राण आदि का उससे सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है अतः जीव का भी सम्पर्क उससे टूट जाता है। उसी प्रकार शाखा जब तक वृक्ष से सम्बद्ध है तब तक उसके साथ वृक्षस्थ प्राणादि का सम्बन्ध होने से वृक्षस्थ जीवात्मा का भी उससे सम्बन्ध बना रहता है। जब शाखा काट दी गई तब वृक्षस्थ प्राण आदि के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता अतः वृक्षस्थ जीवात्मा के साथ भी उस शाखा का सम्बन्ध नहीं रहता तथा जिस प्रकार स्त्री गर्भाशय में निषिक्त शुक्र वहां जाकर अपूर्व जीव से सम्बद्ध हुवा नवीन शरीर के निर्माण का कारण बनता है, उस नवीन शरीर के प्राणादि साधन भी अपूर्व ही होते हैं जिनसे उस व्यक्ति का विकास होता है। जब तक उस व्यक्ति (बननेवाले शरीर) में

अदृष्टवशात् जीवात्मा रहता है तब तक उसकी वृद्धि आदि होती रहती है। जीवात्मा के निकल जाने पर वृद्धि आदि बन्द हो जाती है तब उसे मृत कहा जाता है।

इसी प्रकार वृक्ष से काटी गई शाखा भी जब भूमि रूपी गर्भ में स्थापित करदी जाती है तब उसमें द्यौ आदि द्वारा सिञ्चित जल व भूमिगत उष्णता के योग से जीवन आजाता है तथा उसी समय वायु जल वा विद्युत् आदि द्वारा उसमें अपूर्व जीवात्मा का भी प्रवेश हो जाता है। उस शाखा में जीवात्मा के आगमन के अनन्तर ही नवीन स्थावर शरीर का निर्माण आरम्भ हो जाता है। जीव की विद्यमानता से ही प्राण आदि द्वारा उसका पोषण होता रहता है। अदृष्टवशात् जीव की अविद्यमानता में प्राणादि साधन भी नहीं रहते, क्योंकि नौकर तो तभी तक रहा करते हैं जब तक स्वामी की सत्ता (विद्यमानता) होती है। स्वामी के अभाव में उसके अधीनस्थ नौकर भी नहीं रह सकते। पुनः उसी पृष्ठ ६४ पर उससे आगे पण्डित जी ने अनेक तर्कों की उद्भावनायें की हैं। जैसे—

"क्या उन काटी गई शाखाओं के साथ भी जीव चला जाता है? यदि हां, तो फिर यह बताना होगा कि जीव पूरा का पूरा जाता है या उसका कुछ भाग ही उन शाखाओं के साथ जाता है? यदि पहली बात मानें तो वह वृक्ष जिसकी शाखाएं काटी गई हैं निर्जीव होने के कारण सूख जाना चाहिये था, परन्तु ऐसा प्रत्यक्षविरुद्ध है और यदि कहो कि नहीं, जीव का कुछ भाग उन शाखाओं के साथ जाता है तो यह भी सिद्धान्त और प्रमाणविरुद्ध है इत्यादि।"

समीक्षा—ये तर्क तो आपके प्राण पर भी चरितार्थ (लागू) होते हैं। यथा—क्या उन कटी हुई शाखाओं के साथ वृक्षस्थ प्राण जाता है? यदि हां, तो सम्पूर्ण प्राण जाता है वा उसका एक देश, यदि प्रथम पक्ष है तो वह वृक्ष सूख जाना चाहिये जिसकी वह शाखा थी। परन्तु यह प्रत्यक्षविरुद्ध है। यदि कहो प्राण का एक देश जाता है तो क्या कारण है कि किन्हीं शाखाओं में तो जीवन चल पड़ता है, किन्हीं में नहीं, अर्थात् समान प्रयत्न करने पर भी कुछ शाखायें फूट आती हैं, कुछ शाखायें सूख जाती हैं, जब कि संचालक सर्वत्र सर्वशक्तिमान् परमात्मा दोनों का एक ही है और संचाल्य जड़ प्राण भी एक ही है फिर तीसरी कड़ी कौन सी शेष रह गई जिसके होने से जीवन होता है और न होने से नहीं होता। हमारे मतानुसार तो वह तीसरी कड़ी जीवात्मा है। आपके मत में क्या है? यदि कहो कि कोई अन्य प्राकृतिक कारण

ही है, तो क्या वह अन्य प्राकृतिक कारण ईश्वर के वश में नहीं है जिसके बिना वह शाखा सूख गई। यदि ऐसा है तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् न रहेगा। हमारे मतानुसार तो जिस जीव के अदृष्ट होंगे वहां ईश्वर साधन उपस्थित कर देगा, जहां अदृष्ट नहीं होंगे वहां नहीं करेगा, जैसे प्राणिगर्भ में। अतः प्राणापान आदि की उपस्थिति के लिए वृक्षादि में भी प्राणियों के समान जीव का होना आवश्यक है।

पृष्ठ ६५ पंक्ति ७-६ पर लिखा है—

"जिज्ञासु—तो फिर वृक्ष की शाखाओं के सूखने का क्या कारण है?

पण्डित—वह ही परमेश्वर द्वारा प्राण की संचार व्यवस्था का उस भाग से समाप्त हो जाना।"

समीक्षा—परमेश्वर ने प्राण की संचार व्यवस्था उस भाग से समाप्त क्यों करदी? किसी जीव के अदृष्ट के कारण करदी वा यों ही स्वेच्छया समाप्त करदी, यदि किसी जीव के कर्म के बिना ही स्वेच्छया करदी तो ईश्वर स्वेच्छाचारी हो जावेगा। ईश्वर स्वेच्छाचारी नहीं है, वह जो कुछ भी कहीं भी करता है जीवों के कर्मानुसार ही करता है।

पृष्ठ ६५ पंक्ति ६-१२ पर—

"जो व्यवस्थापक सामान्य प्राण निर्जीव जगत् में क्रिया का आधार है वह प्राकृतिक वृक्ष के परिणामी होने के कारण परमेश्वर की व्यवस्थावश वहां संचारित होना बन्द हो जाता है।"

समीक्षा—व्यवस्थापक होता है व्यवस्था करनेवाला। (कर्त्ता), वह चेतन (ज्ञानवान्) हो सकता है जड (ज्ञान रहित) नहीं, प्राण जड़ है अतः प्राण व्यवस्थापक नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'क्रिया का आधार' वह होता है जो वृद्धि आदि का अधिकरण=आश्रय हो अर्थात् जिसमें वृद्धि आदि क्रियायें होती हैं। वृद्धि आदि क्रियायें वृक्षादि में हैं, प्राण में नहीं, प्राणादि तो उन क्रियाओं के होने में करण (मुख्य कारण) है, अतः क्रिया का आधार प्राण को कहना भी अयुक्त है।

'निर्जीव जगत्' से आपका क्या अभिप्राय है? यदि वनस्पति आदि स्थावर जगत् से है तो वह साध्य कोटि में होने से उसका उदाहरणरूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। यदि पृथिवी आदि जड़ जगत् अभिप्रेत है तो उसमें प्राण अपान आदि है ही नहीं। इसलिये मानना चाहिये कि जो जीवन व्यवस्था मनुष्य आदि प्राणी जगत् में है वही जीवन व्यवस्था वृक्षादि

अप्राणी जगत् में भी है। उस व्यवस्था के हेतु जिस प्रकार ईश्वर प्राण आदि है उसी प्रकार जीव भी है। जिसके होने से प्राण आदि का कार्य होता रहता है, तथा जिसके न रहने पर उनका कार्य बन्द हो जाता है।

जिस प्राणी का शरीर वा अप्राणी शरीर में जीव का अदृष्ट वहां रहने के लिए समाप्त हो गया जीव के निकल जाने से वा ईश्वर द्वारा निकाल दिये जाने से प्राणादि का कार्य भी बन्द हो जाता है। जहां जीव रहता है वहां प्राणादि का कार्य भी बन्द नहीं होता। जीव का आना जाना सूक्ष्म शरीर द्वारा होता है; सूक्ष्म शरीर १७ तत्त्वों का होता है उनमें पंच प्राण भी हैं। इसलिए प्राणादि जीव के साथ आते जाते हैं। जीव के बिना नहीं।

इसलिये मनुष्यादि प्राणियों के समान वृक्षादि अप्राणियों में प्राण आदि के कार्य-साम्य से जीव स्वीकार करना चाहिये।

पृष्ठ ६५ पंक्ति ११-१२ पर—

"वह (प्राण) प्राकृतिक वृक्ष के परिणामी होने के कारण परमेश्वर की व्यवस्थावश वहां संचरित होना बन्द हो जाता है।"

समीक्षा—यहां वृक्ष का 'प्राकृतिक' विशेषण देना व्यर्थ है। यदि वृक्षादि स्थावरों में प्राणापान आदि के नाश का हेतु परिणामीपना है तो तत्सादृश्य से मनुष्यादि प्राणियों में भी वही प्राप्त होगा। किन्तु इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण तीनों का विरोध है।

प्राणियों में प्राणादि के बन्द होने में जीव के अदृष्ट (धर्म अधर्म) को ही मुख्य कारण स्वीकार किया गया है। इसलिये वृक्षादि में भी वही मुख्य हेतु अनुमान आदि से सिद्ध है। तथा परिणामित्व का और प्राणाभाव का परस्पर हेतु हेतुमद्भाव सम्बन्ध (अन्वय व्यतिरेक) भी नहीं है। क्योंकि परिणामित्व जहां प्राणादि रहते हैं वहां भी रहता है और जहां प्राणादि नहीं रहते यथा मिट्टी पत्थर आदि वहां पर भी रहता है। इसलिये परिणामित्व के कारण वृक्षादि में प्राणादि का संचरित होना बन्द हो जाता है इति रिक्तं वचः अर्थात् ऐसा कहना यथार्थ नहीं है। दूसरा कारण आपने 'परमेश्वर की व्यवस्था' दिया है (वा बताया है)। जीवों के अदृष्ट (धर्म अधर्म) को छोड़कर अन्य कौनसी व्यवस्था है जो प्राण संचार को बन्द कर देती है? कृपया बताने का कष्ट करते।

इस प्रकार यह सारा ही कथन (लेख) परस्पर विरुद्ध अर्थशून्य वाग्जाल मात्र है।

पुनः पृष्ठ ६५ पंक्ति १३ पर—

"उसी व्यवस्थावश शाखा सूखती, फल फूल पकते और झड़ते रहते हैं और समय आने पर पूरे के पूरे सूख जाते हैं।"

समीक्षा—जो व्यवस्था अनिर्वचनीय है जिसके स्वरूप का निर्देश ही नहीं किया गया उसके आश्रित सब कुछ मान लेना कितना बड़ा अविवेक है।

'समय आने पर सूख जाते हैं' समय आने की क्या पहचान है? समय कब आता है? कोई आम्र आदि का वृक्ष दो चार वर्ष में सूख जाता है। कोई (५०) पचास सौ (१००) वर्ष तक जीवित (हरे भरे) खड़े रहते हैं। प्राणियों में तो यह व्यवस्था (जीवन की अवधि आदि) प्राणियों के कर्मानुसार है। अतः वृक्षादि अप्राणियों में भी जीव के अदृष्ट (धर्म अधर्म) ही उनकी मृत्यु (समाप्ति) का मुख्य कारण सिद्ध होता है।

पुनरपि पृष्ठ ६५ पंक्ति १५ पर—

'परमेश्वर की यही व्यवस्था विशेष प्राणों के आश्रित सजीव प्राणियों में भी कार्य करती है।'

समीक्षा—अप्राणी वृक्षादि में तो ईश्वर की व्यवस्था के वश (आधीन) प्राण कार्य करते थे। यहां मनुष्यादि प्राणियों में आकर वह ईश्वर की तथाकथित (अनिर्वचनीय) 'व्यवस्था' प्राणाश्रित (प्राणाधीन) हो गई, यह परस्पर विरुद्ध लेख (कथन) है। तथा प्राणियों का 'सजीव' विशेषण देना भी निरर्थक है क्योंकि प्राणी तो सभी सजीव ही होते हैं।

पुनरपि पृष्ठ ६५ पंक्ति १७-२० पर—

'जिसके कारण उनमें भी नखों का बढ़ना, बालों का पकना, शरीर का शिथिल हो जाना, रोगादि का प्रादुर्भाव प्राकृतिक शरीरों के परिणामी होने के कारण होता रहता है।'

समीक्षा—मनुष्यादि प्राणी देहों में पूर्वोक्त क्रियायें जीवों के प्रारब्ध व वर्त्तमान कर्मवशात् भौतिक कारणों से होती हैं। यही ईश्वर की व्यवस्था है। इससे भिन्न अन्य कोई ईश्वर की व्यवस्था नहीं। आपकी कोई कल्पित व्यवस्था ईसाई मुसलमानों के समान हो तो हमें उसका ज्ञान नहीं।

किञ्च प्रथम श्वास में रोग प्रभृति का कारण आपने बताया 'ईश्वर की

व्यवस्था विशेष', द्वितीय श्वास में बताया, 'परिणामी होना' किसी एक बात पर ही स्थिर रहिये. दोगली बातें न कीजिए।

अन्त में उसी पृष्ठ ६५ पंक्ति २० से २३ तक—

'एक दिन इस परिणाम के परिणाम-स्वरूप सम्पूर्ण शरीर जीर्ण शीर्ण हो जाता और प्राणों के त्याग के कारण उसका जीव से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है', इत्यादि।

समीक्षा—बच्चों और जवानों को मृत्यु क्यों हो जाती है? वह किस परिणाम स्वरूप है? यह भी स्पष्ट कर देते तो अच्छा था।

भाषा व्याकरण की दृष्टि से 'अपादान' संज्ञा शरीर की होनी चाहिये जीव की नहीं। अतः 'शरीर से जीव का सम्बन्ध विच्छेद' लिखना ठीक है।

शरीर से जीव का सम्बन्ध विच्छेद का कारण आपने प्राणत्याग को बताया अर्थात् आपके विचार में (मत में) प्राणों ने शरीर को छोड़ दिया इसलिये जीव भी शरीर से अलग हो गया (निकल गया) परन्तु आपसे प्रश्न है प्राण त्याग का क्या कारण है? प्राण शरीर को क्यों छोड़ गये?

समझने समझाने की ठीक (उचित) प्रक्रिया यह है—

जीव का भोग (प्रारब्ध) जो उस शरीर सम्बन्धी था वह समाप्त (पूर्ण) होगया इसलिये जीवात्मा का शरीर से वियोग हो गया। जीवात्मा के न रहने से उसके अनुचर प्राणादि भी नहीं रहे। प्राणादि के अभाव में तज्जन्य शारीरिक कर्म भी रुक गये (समाप्त हो गये)।

इस सरल सुबोध शास्त्रानुसारिणी प्रक्रिया को त्यागकर आपने मनमाना वाग्जाल रच डाला। उससे कोई क्या समझेगा। जब मनुष्य सत्यमार्ग से भटक जाता है तब ऐसे ही अनर्गल असम्बद्ध भाषण किया करता है।

यह छठे दिन के सम्वाद की समीक्षा समाप्त हुई।

—०—०—

सातवें दिन के सम्वाद की समीक्षा

ऋषि दयानन्द की सम्मति

गत छठे दिन के सम्वाद में आपने आयुर्वेद के विशिष्ट विद्वान् वाग्भट्ट के लिए भी 'महर्षि' विशेषण प्रयुक्त किया है। स्वामी जी महाराज के आगे कम से कम शीर्षक में तो अवश्य महर्षि का प्रयोग करना चाहिये था। अस्तु—

प्रथम आपने जड़ और चेतन का लक्षण स्वामी जी महाराज द्वारा आर्योद्देश्य रत्नमाला में किया हुआ लिखा है जड़—'जो वस्तु ज्ञानादि गुण रहित है उसको जड़ कहते हैं।' आर्योद्देश्य ६७

चेतन—'जो पदार्थ ज्ञानादि गुणों से युक्त है उसको चेतन कहते हैं।' आ० ६८

यदि आप इन लक्षणों को भली प्रकार समझ लेते तो वृक्षादि को जड़ होने मात्र से निर्जीव न मानते। क्योंकि—'यत्र यत्र जीवाभावः तत्र तत्र जडत्वम्'। जहां-जहां जीव नहीं है वहां-वहां जड़ता है, जैसे पृथिवी आदि। किन्तु—'यत्र यत्र जडत्वम् तत्र तत्र जीवाभावः' जहां-जहां जड़ता है वहां वहां जीव नहीं है। यह व्याप्ति अशुद्ध है; जैसे कि सुषुप्ति अवस्था में सब प्राणी जड़ (ज्ञानादि गुण रहित) हैं। तथा गर्भकाल में जरायुज प्राणी, अण्डाकाल में अण्डज प्राणी जड़ होते हुए भी जीव सहित होते हैं।

जैसे कि—'जहां २ धूम है, वहां २ अग्नि है' यह व्याप्ति तो ठीक है। परन्तु जहां-जहां अग्नि है, वहां धूम भी है, यह व्याप्ति अशुद्ध है। क्योंकि तप्त लोहे आदि में अग्नि तो है परन्तु धूम नहीं है। पृष्ठ ६८ पर आपने लिखा है—

'तस्थुषः' शब्द के सम्बन्ध में लिखते हुए लिखा है-'अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ पदार्थ पृथिवी आदि है।' जिसका सीधा भाव है कि स्वामी जी स्थावर और जड़ को पर्यायवाची मानते हैं।

समीक्षा—आपने सत्यार्थप्रकाश का पाठ देते हुए जड़ शब्द के पश्चात् 'अर्थात्' के स्थान पर 'पदार्थ' शब्द लिखा है। यदि परिवर्तन ज्ञानपूर्वक किया है तो अक्षम्य अपराध है। यदि ऐसा भूल से हो गया है तो क्षम्य है। क्योंकि इससे अर्थ का अनर्थ हो गया है; जैसा कि आपने भाव लिखा है। इस 'तस्थुषः' पद की व्याख्या पहले दिन के सम्वाद में देखिये। वहां सिद्ध किया है कि अप्राणी के दो भेद स्पष्ट बताये हैं।

एक स्थावर वृक्षादि जड़ दूसरे पृथिव्यादि जड़। स्थावर और पृथिव्यादि

को पर्यायवाची समझना आपकी भ्रान्ति है। क्योंकि जड़त्व जाति व्यापक और स्थावरत्व पृथिवीत्व आदि जातियां उसकी व्याप्य जातियां हैं।

आप शास्त्री हैं विद्वान् हैं संस्कृत भाषा का आपको ज्ञान है। इसलिये आइये देखें 'स्थावर' शब्द कैसे बना है, उससे क्या अर्थ निकलता है।

पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है—'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (३-२-१७५) इससे स्था आदि धातुओं से शील (स्वभाव) धर्म, साधुकारी इन अर्थों में वर्तमान काल में वरच् प्रत्यय होता है।

'स्था गतिनिवृत्तौ' स्था धातु मुख्य रूप से गति निवृत्ति अर्थ में प्रयुक्त होती है।

इससे 'स्थावर' का अर्थ हुआ—तिष्ठन् शीलः, तिष्ठन् धर्मा अर्थात् स्थिति का जिसका स्वभाव वा धर्म है वह स्थावर है।

प्रश्न—इस अर्थ से तो पृथिवी आदि भी स्थिति स्वभाव वाले वा स्थिति धर्म वाले होने से स्थावर होने चाहिएं।

उत्तर—पृथिवी आदि को स्थावर, नहीं कहा जा सकता क्योंकि गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। यहां पर गति का 'ज्ञान' अर्थ अभिप्रेत है। स्थावर वह है जो वर्तमान काल में ज्ञान निवृत्ति धर्मवाला है अर्थात् भूतकाल में ज्ञान निवृत्त नहीं था, भविष्यत् में ऐसा नहीं रहेगा। वर्तमान कालिक ज्ञान निवृत्ति धर्मवाला अर्थात् जड़ स्थावर वृक्षादि ही हैं पृथिव्यादि तो शाश्वतिक ज्ञानाभाव वाले हैं अर्थात् त्रैकालिक (शाश्वतिक) जड़ है अर्थात् ज्ञानादि अभाव वाले हैं। इसलिये स्थावर शब्द वाच्य नहीं है।

यहां पर एक बात और समझ लेनी चाहिए कि व्यवहार में मनुष्य, सिंह, गौ, अश्व, स्थावर आदि शब्द व्यक्ति, जाति, आकृति तीनों के वाचक होते हैं। मनुष्य शब्द से मनुष्य जीव, मनुष्य देह=मनुष्य आकृति (अवयव सन्निवेश विशेष) अर्थात् मनुष्य योनि तीनों वाच्य हैं।

इसी प्रकार 'स्थावर' शब्द से स्थावर जीव, स्थावर योनि, स्थावर जाति सभी वाच्य हैं। अतः स्थावर जीव का अभिप्राय यह है कि जो जीव वृक्षादि योनियों में आकर वर्तमान काल में गति (ज्ञान) से निवृत्त (अभाववाले) हैं।

प्रश्न—जब जीव हैं तो वे ज्ञान से रहित कैसे होंगे।

उत्तर—ज्ञान के साधन छीन लेने से व उनको कुण्ठित (कार्य के अयोग्य) कर देने से जैसे कि सुषुप्ति और प्रलयावस्था में सांसारिक जीव बाह्यज्ञान शून्य

हो जाते हैं। स्थावर योनियों में जीव के ज्ञान के साधन ज्ञानेन्द्रियां नहीं होतीं अतः अन्तःकरण ज्ञान कार्य करने में कुण्ठित (असमर्थ) रहता है। नैमित्तिक ज्ञानशून्य होने से स्थावर जीवों को जड कहा जाता है।

पृष्ठ ६९ पंक्ति १-२ पर लिखा है—

'जिज्ञासु—क्या स्वामी जी के ग्रन्थों में आये मनुस्मृति आदि के प्रमाण, प्रमाण नहीं माने जायेंगे ?

पण्डित जी—नहीं, स्वामी जी ने सम्वत् १९३५ विक्रमी में निम्न विज्ञापन द्वारा अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी। विज्ञापनम्'''...'

समीक्षा—प्रथम तो आपने जिज्ञासु द्वारा 'मनुस्मृति के प्रमाण, प्रमाण नहीं माने जायेंगे ?' यह प्रश्न करवाया, पश्चात् उसका उत्तर 'नहीं' दिया, दोनों गलत (अशुद्ध) हैं। क्योंकि—यदि आप प्रमाण को प्रमाण नहीं मानेंगे तो क्या अप्रमाण को प्रमाण मानेंगे। यदि वह प्रमाणभूत है तो उसको प्रमाण ही मानना पड़ेगा। प्रमाण को भी प्रमाण न मानने से आपका कथन अमान्य हो जावेगा। इसलिये आपको जिज्ञासु के कथन में प्रथम प्रमाण पद के स्थान पर 'वचन' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था तब आपका उत्तर रूप में 'नहीं' शब्द का प्रयोग उचित जंचता।

विज्ञापन के विषय में निवेदन है—प्रथम तो विज्ञापन की पृष्ठभूमि देखनी वह कौनसी बात थी जिस कारण विज्ञापन प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई ? क्योंकि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः, इति न्यायविदां मतम्'— वक्ता ने जिस अभिप्राय को लक्ष्य में धरकर वाक्य का प्रयोग किया है उसका वही अर्थ लेना उचित होता है। उसको अन्यार्थ में लेजाना उचित नहीं होता। यादृश (जिस प्रकार के) प्रकरण को लेकर बात कही गई है तादृश प्रकरणों पर ही उसको लागू करना बुद्धिमानों का काम है। प्रकरण से भिन्न में भी उसे प्रयुक्त करना उचित नहीं।

पृष्ठ ६९ पंक्ति १७-१८ पर लिखा है—

'सत्यार्थप्रकाश में उक्त मनु के वचन केवल पुनर्जन्म के पक्ष में साक्षी रूप में ग्राह्य हैं, प्रमाण रूप में नहीं।'

समीक्षा—'साक्षी रूप में ग्राह्य हैं प्रमाण रूप में नहीं, यह आपका कथन 'वदतो व्याघात' दोष से दूषित है। तद्यथा-यदि साक्षी रूप ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) हैं तो प्रमाण हो गये। यदि प्रमाण नहीं हैं तो साक्षी रूप में ग्राह्य

नहीं हो सकते ? इसलिये यह परस्पर विरुद्ध लेख है। क्या कोई झूठे (अप्रमाण) को साक्षी रूप में प्रस्तुत करने का अधिकारी है ? क्या ऐसा करने वाला दण्ड्य (दण्ड का अधिकारी) नहीं होता वा होना चाहिए। असत्य वचन (अप्रमाण वचन) की साक्षी नहीं होती। यदि कोई साक्षी रूप में ग्राह्य है, तो वह प्रमाण है, अप्रमाण नहीं।

साक्षी कहते हैं—'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' यह पाणिनीय सूत्र है। जिसने वस्तु को प्रत्यक्ष (साक्षात्) देखा है वह साक्षी होता है।

पृष्ठ ६८ की अंतिम मे आप लिखते हैं—

'केवल पुनर्जन्म के पक्ष में एक साक्षी रूप में न कि प्रमाण रूप में।'

समीक्षा—क्या कोई बुद्धिमान् मनुष्य अपने पक्ष की पुष्टि के लिये अप्रमाण भूत वाक्य (वचन) प्रस्तुत कर सकता है ? तथा क्या अप्रामाणिक सन्दर्भ से किसी बात की पुष्टि हो सकती है ?

मेरी समझ (मति) से तो बुद्धिमान् मनुष्य अप्रामाणिक वचनों को प्रस्तुत नहीं करता और न अप्रामाणिक वचनों से किसी के मन की पुष्टि हो सकती है। यदि किसी सन्दर्भ में दोनों प्रकार के वचन हों प्रामाणिक भी और अप्रामाणिक भी, उनको प्रस्तुत करनेवाला अप्रामाणिक भाग का खण्डन आगे पीछे कहीं न कहीं करेगा, यदि प्रतिषेध नहीं करता तो यह समझा जाता है कि वह उसको अभिमत है।

'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तत्र युक्तिः' इस न्याय से। तथा— 'शरीरजैः कर्मदोषैः याति स्थावरतां नरः' इत्यादि मनुस्मृति के श्लोकों को स्वामी जी ने पुनर्जन्म की पुष्टि के लिये सत्यार्थप्रकाश में प्रस्तुत किया है, यह आपकी मान्यता भी अयुक्त है। तद्यथा-

देखिये सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास में—

(प्रश्न) जन्म एक होता है वा अनेक ? इस प्रश्नोत्तर के बाद तो आठ नौ प्रश्नोत्तर अन्य भी हो चुके हैं। अन्तिम प्रश्न—जैसे शरीर के विना सांसारिक सुख नहीं भोग सकता है वैसे मुक्ति के बिना शरीर आनन्द कैसे भोग सकेगा।' यह है; इस प्रकरण में अन्त में सुख दुःख का कारण धर्म और अधर्म को बताते हुए पाप पुण्य से होनेवाली जीव की गति का वर्णन करने के लिये मनुस्मृति के पूर्वोक्त श्लोक दिये हैं। यदि स्वामी जी इन श्लोकों को अप्रामाणिक मानते थे तो इनका यहां देना व्यर्थ है, भ्रमोत्पादक है। मति

48

विभ्रम पैदा करना ऋषियों का कार्य नहीं होता, ऐसा तो स्वार्थी विद्वान् ही कर सकते हैं। इसलिये आपका कथन अयुक्त है।

पृष्ठ ६९ पंक्ति २१ से आगे आप लिखते हैं—

'उक्त वचन वेदविरोधी होने के कारण न प्रमाण कोटि में आते हैं, और न ग्राह्य ही हो सकते हैं। जिज्ञासु—वह क्यों ? पण्डित—वह ऐसे कि इन्हीं उद्धृत मनु के श्लोकों में कितनी ही ऐसी बेतुकी और वैदिक सिद्धान्त विरुद्ध बातें कही गई हैं जिन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसे—'देवत्वं सात्विका यान्ति' से अगले प्रायः सभी श्लोकों में शूद्र, म्लेच्छ, चारण, राक्षस, झल्ला, मल्लाह, नट, क्षत्रिय, पुरोहित, विप्र, वकील, गायक ...दक, याज्ञिक, ऋषि, देव, ज्योतिषी आदि को योनिज माना गया है।

समीक्षा—इनमें क्या बेतुकापन है ? और कौनसे वेद वचन से इनका विरोध है ? आपने बतलाने का कष्ट तो किया होता ? हमको तो इनमें कुछ बेतुकापन व वेद विरोधिता ज्ञात नहीं हुई, आप दया दृष्टि करके दिखा देते तो देख लेते। केवल आपके कथनमात्र से हम स्वीकार नहीं कर सकते। क्या वे पूर्वोक्त प्राणी योनिज नहीं हैं ? अयोनिज हैं ?

पृष्ठ ७० पंक्ति ६ पर पुनरपि लिखते हैं—

इन श्लोकों में तो नक्षत्रों तक को (८वाँ श्लोक) योनियों में गिनाया गया है। जिन्हें आप भी जड़ मानेंगे। अतः उक्त श्लोकों को प्रमाण रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

समीक्षा—आप निज मत से ग्रहणाग्रहण में स्वतन्त्र हैं। परन्तु स्वामी जी ने तो ग्रहण किया है इस बात का कैसे खण्डन कर सकते हैं।

आपको श्लोकों में जो बेतुकापन दीखता है उसका तो स्वामी जी महाराज ने दूर करने का यथेष्ट प्रयत्न किया है, आप न मानें, स्वीकार न करें वा न समझें तो क्या किया जाये।

तद्यथा—८म श्लोक में आये 'नक्षत्राणि' पद का अर्थ 'नक्षत्रविद्या' (खगोल शास्त्र) को जाननेवाले ज्योतिषी, यह अर्थ किया है। ज्योतिषी तो जड़ नहीं होते। इसी प्रकार 'वेदा ज्योतींषि वत्सराः' के अर्थ = वेद, विद्युत् और कालविद्या के ज्ञाता रक्षक' इस प्रकार किये हैं। ये सब भी चेतन (मनुष्य) हैं जड़ नहीं हैं। परन्तु आपको पूर्वाग्रह (मेरा ही मत ठीक है अन्य, नहीं) होता है वह 'पश्यन्नपि न पश्यति' होता है। अर्थात् देखता हुआ भी नहीं देखता।

मान्यवर पण्डित जी ! ऋषियों की वाणी को ऋषि ही पूर्ण रूप से समझ सकते हैं, अथवा जो उन पर श्रद्धाशील होकर समझने के लिये पूर्ण प्रयत्नशील विद्वान् हैं वे भी समझ सकते हैं।

आगे चलकर आपने स्वमत की पुष्टि के लिए स्वामी जी महाराज द्वारा सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में उद्धृत मनुस्मृति अ० ५ श्लोक ६५ को प्रस्तुत किया है। मैं आपसे प्रश्न करता हूँ कि इसमें आपको क्या अवैदिकता दीखती है ?

पण्डित जी –'दशरात्रेण शुध्यति' अर्थात् दश दिन में शुद्ध होता है। यह अवैदिकता है।

सिद्धान्ती—आप यहां शुद्धि किसकी ग्रहण करते हैं।

पण्डित जी—शरीर की।

सिद्धान्ती जी—वह इसमें कहां लिखी है।

पण्डित जी—और किसकी हो सकती है।

सिद्धान्ती जी—चित्त की शुद्धि हो सकती है।

पण्डित जी—इस (श्लोक) में कहां विहित है।

सिद्धान्ती—लिखी तो नहीं किन्तु शुद्धि दो प्रकार की होती है। एक बाह्य शुद्धि शरीर वस्त्रादि के प्रक्षालन से, दूसरी अन्तःकरण की शुद्धि—राग, द्वेष, मोहादि के दूरीकरण से आभ्यन्तर शुद्धि कहाती है। जैसे योगदर्शन के व्यासभाष्य में लिखा है—'तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्।'

मनु महाराज ने भी लिखा है—'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥'

ऐसी अवस्था में जिस अर्थ की संगति बैठती है वह ग्रहण करना, इतर का त्याग करना उचित है। यहां पर बाह्यशुद्धि अर्थ ग्रहण असंगत है, अतः त्याज्य है।

पण्डित जी—आभ्यन्तर शुद्धि की संगति कैसे सुसंगत है ?

सिद्धान्ती जी—प्रियजन का वियोग होने पर शोक मोह आदि की निवृत्ति के लिए कुछ समय अपेक्षित है। विद्वानों के समझाने व स्वयं विचार करने से शनैः शनैः शोक मोह दूर होते हैं; झटिति नहीं।

दूसरी बात यह है कि मनुस्मृति लोक व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाला शास्त्र है। लोक-व्यवहार की शिक्षा देना भी इसका कार्य है। गुरु के प्राणान्त होने पर गुरुकुल में दश दिन का आशौच (अनध्याय) रहे। इस अन्तर में उनसे सम्बन्ध रखनेवाले इष्ट मित्र भी शोक प्रदर्शनार्थ जिसको आना है आ लेवेंगे। इस आशौच में दश दिन की अवधि रख दी गई (बान्ध दी); इसके पश्चात् आशौच (अनध्याय) समाप्त होकर यथापूर्व अपने कार्य में प्रवृत्त हो जावें। चित्तशुद्धि अर्थ ग्रहण में युक्ति भी है—किसी प्रियजन का वियोग देखने वा सुनने पर चित्त में ही मलिनता आती है, शरीर में विशेष नहीं। जिसमें मलिनता आवे शुद्धि भी उसी की होनी चाहिये। अशुद्धि हो चित्त की, समझी जावे वा की जावे शरीर की, यह बेतुकापन है।

पण्डित जी—एक गुरु के सैंकड़ों शिष्य हो सकते हैं; कुछ गुरुकुल में निवास करते हैं कुछ विद्या पढ़ कर घर जाकर स्वव्यापारादि कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। वे भी तो दाह संस्कार में सम्मिलित हो सकते हैं, क्या उनके लिए भी इस दश दिन के आशौच का विधान है ?

सिद्धान्ती जी—नहीं है। वे तो वहां से जाते ही अपने-अपने कार्य व्यवहार में लग सकते हैं।

पण्डित जी—उनके लिए क्यों नहीं, क्या वे शिष्य नहीं वा प्रेतहार (मृतक शरीरों को उठानेवाले) नहीं बन सकते।

सिद्धान्ती जी—शिष्य भी है, प्रेतहार भी बन सकते हैं परन्तु उनके लिये यह विधान नहीं है।

पण्डित जी—यह किस प्रकार समझें ?

सिद्धान्ती जी—इस बात को यही श्लोक समझाता है।

पण्डित जी—वह किस प्रकार ?

सिद्धान्ती जी—इस श्लोक में एक पद है 'तत्र'। उससे यह अभिप्राय निकलता है। तत्रैव वर्तमानः नान्यत्र गतः। उसी स्थान पर (जहां गुरु का प्राणान्त हुआ है) वर्त्तमान, अन्यत्र गया हुआ नहीं।

इसी प्रकार आर्षवचनों की संगति लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। पूर्ण विचार किये बिना झटिति अवैदिकता का फतवा दे देना विद्वत्ता का काम नहीं। आपसे यही निवेदन है। आप तो पूर्ण पण्डित है शास्त्रवित् हैं आपको तो संकेतमात्र ही पर्याप्त था। यह इतना विस्तार साधारण जनों के बोध के लिए किया गया है।

पृष्ठ ७२ पंक्ति १६ पर आप लिखते हैं—

ओम् द्वे सृती अशृणवम् पितॄणां देवानामुत मर्त्यानाम् ।

ताभ्यां विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च ॥

इस मन्त्र के संस्कृतार्थ और भाषार्थ में पार्थक्य होने से तथा भावार्थ से स्वार्थ (स्वप्रयोजन) का विघात होने से पण्डित महोदय लेखकों पर लाल पीले हुए हैं और उनको जली कटी सुनाई हैं।

यहां (इस मन्त्र के भाषार्थ से) पण्डित जी इसलिए लेखकों से रुष्ट हो गये हैं कि मन्त्र का भाषार्थ उनके विचारों के विपरीत वृक्षों में जीव सिद्ध करता है और बहुत दूर की कौड़ी खोजकर लाये हैं।

वस्तुतः बात यह है कि मन्त्रों का संस्कृतार्थ क्लिष्ट (दुर्बोध) परीक्षक बुद्धिगम्य होता है अपेक्षाकृत उसके। भाषार्थ सरल सुबोध इसलिए होता है कि भाषा जाननेवाले साधारण पठित जन भी समझ जावें। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में प्रायः सर्वत्र ही मन्त्रों के संस्कृतार्थ और प्राकृत भाषार्थ में अन्यार्थता है। विपरीतार्थता नहीं।

'ऋषीणामनेकधा मंत्रदृष्टयो भवन्ति' इति न्यायात्। ऋषियों अर्थात् मंत्र द्रष्टाओं के अनेक प्रकार से मंत्र दर्शन होते है। इस पुस्तक में ऐसे भी स्थल विशेष हैं जहाँ संस्कृतार्थ वृक्षों में जीव स्वीकार करनेवालों के मत की पुष्टि करता है और उसका भाषार्थ वृक्षों में जीव न माननेवालों को भाता है। उदाहरण के लिए सृष्टि प्रकरण में पुरुष सूक्त के चतुर्थ मंत्र का अर्थ है।

अब पूर्वोक्त मन्त्र का प्राकृत भाषार्थ लिखा जाता है—

"(द्वे सृती) इस संसार में दो प्रकार के जन्मों को (अशृणवम्) सुनते हैं। एक मनुष्य शरीर का धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्षादि का होना। इसमें मनुष्य शरीर के तीन भेद हैं। एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्य शरीर का धारण करना।

इसमें प्रथम गति अर्थात् मनुष्य शरीर पुण्यात्माओं और पुण्य पाप तुल्य-वालों को होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिए है (ताभ्याम् इदं विश्वम् एजत् समेति) सब जगत् के जीव अपने-२ पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं। (यदन्तरा पितरं मातरञ्च) जीव को माता पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्म धारण करना, पुनः शरीर को छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना बारम्बार होता है।"

समीक्षा—इस पूर्वोक्त मन्त्रार्थ में 'वेद के भावों से बाहिर' पना अर्थात् अवैदिकता वा पदों के अर्थ से भिन्नता क्या है? समझाइये। यदि आपको लेखकों पर ही अपना रोष निकालना था तो यह कार्य तो केवल 'वृक्ष' शब्द से ही सिद्ध हो सकता था। आप कह सकते थे लेखक पण्डितों ने यहां स्वामी जी की इच्छा के विरुद्ध 'वृक्ष' शब्द का प्रक्षेप कर दिया है। जैसा आपने अन्यत्र (सत्यार्थप्रकाश के स्थल विशेष पर) भी ऐसा लाञ्छन लेखकों पर आरोपित किया है। हम इस मंत्रार्थ से 'वृक्ष' शब्द को निकाल देते हैं फिर आप बतावें आपको इस मंत्रार्थ पर क्या आपत्ति है? आपके द्वारा लेखकों को लाञ्छित करने पर प्रश्न हो सकता है कि क्या लेखक पण्डितों में मंत्रार्थ करने की योग्यता थी? यदि नहीं तो आक्षेप व्यर्थ है। यदि योग्यता थी तो क्या अन्यत्र भी कहीं ऐसा किया है यदि नहीं तो यहां करने की सम्भावना करना कोरी कल्पना ही है। तथा क्या स्वामी जी महाराज मंत्रार्थ को कभी सुनते वा देखते नहीं थे? क्या पण्डितों पर पूर्ण विश्वास करते थे? यदि पण्डितों पर पूरा भरोसा न करके उनके लेख को सुनते वा देखते थे तो 'लेखकों ने मन्त्रार्थ को बदल दिया' यह आक्षेप मिथ्या है। किसी को मिथ्या लाञ्छित करना पण्डित जनों को शोभा नहीं देता। अस्तु—अब इस मन्त्र के भाषार्थ भेद पर कुछ कहा जाता है।

इस मन्त्रार्थ के संस्कृत भाग में साधारण जनों के लिए कई दुर्बोध बातें हैं। जैसे 'सृति' का अर्थ यान किया है और यान के भी दो भेद बताये हैं। देवयान और पितृयान; जो अन्यत्र आर्षग्रन्थों में द्रष्टव्य है। सर्वसाधारण जनों के लिए ये दुर्बोध बातें हैं। इस पर उनको शंका हो सकती है कि यान के भेद दो, चलनेवालों के भेद तीन, देवों का देवयान, पितरों का पितृयान, तीसरे मर्त्यों का यान कौनसा होगा? इसलिये अध्येता वा श्रोता की बुद्धि को लक्ष्य में रखकर मन्त्र संस्कृतार्थ और प्राकृत भाषार्थ भेद स्वामी जी महाराज का ही किया हुआ है। 'अनेकधा ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्तीत्युक्तम्' ऋषि-गण अनेक प्रकार से मंत्रार्थ किया करते हैं; यह पहले ही कहा जा चुका है।

अब पुरुष सूक्त के चतुर्थ मंत्र के सम्बन्ध में विचार किया जाता है—प्रथम स्वामी जी महाराज का संस्कृतार्थ विचारना चाहिये।

"ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।"

(यजु० अ० ३१-४)

अस्योपरि महर्षेर्दयानन्दस्य ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां सृष्टिविद्याविषये

संस्कृतभाष्यम्—

'(ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विष्वमुत्पद्यते। किञ्च तत्? (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकारणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीव-चेतनादिसहितं जगत्। द्वितीयम् अनशनम् अविद्यमानम् अशनं भोजनं यस्मि-स्तत् पृथिव्यादिकञ्च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्त्तते; तदुभयं तस्मात्-पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते। यतः स पुरुष एतद् द्विविधं जगद्विविध-तया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभि व्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति।'

अस्य व्याख्या—तत्सामर्थ्यात्=तस्य पूर्णस्य सर्वव्यापकस्य सर्वज्ञस्य पुरुषस्य सामर्थ्यात्=मूलकारणात् प्रकृतेः सकाशाद् उपादानकारणात् सर्व-मिदम्=दृश्यमानं स्थूलम् अदृश्यमानं सूक्ष्मं कार्यजगद् उत्पद्यते=प्रादुर्भवतीति। किञ्च तदिति प्रश्ने, अस्योत्तरम् 'साशनानशने' इति। अस्मिन् मन्त्रे साशनम् अनशनमिति संज्ञाभ्यां जगद् द्विधा विभक्तम्। तत्र साशनमित्यस्य विग्रहः (व्याख्यानम्) 'यदेकमशनेने'त्यादि। अशनेन सह वर्तते इति साशनम्। अनशनमिति 'अश् भोजने' अस्माद्धातोः करणे कारके ल्युटि सति निष्पन्नम्। अत एव अस्य व्याख्यानम् 'भोजनकरणेन सह वर्त्तमानम्' इत्युक्तम्। भोजनम् भुक्तिः भुजिक्रिया, तस्य करणम्=साधकतमं मुख्य-कारणमित्यर्थः, तेन सह वर्तमानं यज्जगद् वर्त्तते तत् साशनमित्युच्यते। अत्रोदाहरणं—जङ्गममित्यादि। जङ्गमम्=जङ्गम्यते नित्यं कुटिलं गच्छति यत्तद् जगत् पश्वादिकम्। अन्यत् 'जीवचेतनादिसहितम्=जीवश्च चेतनादय-श्चेति जीवचेतनादयः तैः सहितम्। "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभि-सम्बद्ध्यते" इति नियमात् जीवसहितं चेतनादिसहितञ्चेति गम्यते। तत्र जीव-सहितम् इत्यनेन वृक्षादयः स्थावरा जडा गृह्यन्ते। चेतनादिसहितमित्यनेन मनुष्याः पितरो देवाश्च गृह्यन्ते।

चेतना ज्ञानम् आदिर्येषान्ते चेतनादयो गुणाः। ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्ना गुणाः चेतनादिपदेन ज्ञायन्ते। पश्वादिषु मनुष्यादिषु च युजिक्रियायाः करणभूता मुखाद्यवयवा विद्यन्ते, वृक्षादिषु मूलाद्यवयवाः करणभूताः सन्ति।

द्वितीयमनशनमिति=द्वितीयं जगद् अनशनाख्यमस्ति। तत्र अशनशब्दे भावे ल्युट्। अनशनमित्यत्र बहुव्रीहिसमासः, अत एव अविद्यमानमशनं यस्मि-न्निति विग्रहः कृतः। जडाख्यमप्राणिजगद् अपि द्विविधम्, एकं वृक्षादि स्थावरं

जगद् यज्जीवसम्बन्धसहितं सदपि ज्ञानादिगुणरहितत्वाज्जडमभिधीयते। अपरं पृथिव्यादिकमापरमाणोर्यज्जीवसम्बन्धरहितं वर्त्तते। अत्र संस्कृत-भाष्ये पृथिव्यादिकमेव जडम् अनशनपदेन गृह्यते न तु वृक्षादिकं तस्य साशन-पदेनैव गृहीतत्वात्। अत एव 'यज्जडं जीवसम्बन्धरहितम्' इत्यत्र 'यत्' पदस्य सार्थकता। तदुभयम्=साशनमनशनञ्च जगत्, तस्मात् पुरुषस्य सामर्थ्य-कारणादेव जायते='सामर्थ्यकारणम्' इत्यत्र कर्मधारयसमासः, सामर्थ्यञ्च तत्कारणञ्चेति। 'एवे'ति अवधारणे, सामर्थ्यकारणादेव नान्यस्मात् कारणात् नान्यथा चेति। 'विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति' इति "विष्वङ्" पदस्य निर्वचनं बोध्यम्।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी का भाषाभाष्य—

"(ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है; एक चेतन जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है; और दूसरा अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिए बना है क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है कि जिस से यह सब जगत् उत्पन्न होता है। सो पुरुष सर्व हितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इसका बनानेवाला संसार में सर्वत्र व्यापक होके धारण करके देख रहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है।"

इसकी व्याख्या—'सो दो प्रकार का है एक⋯' यहां 'एक' सर्वनाम पद का प्रथम (पहला) अर्थ है और 'साशन' का वाचक (विशेषण) है। जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता⋯' यह 'साशन' पद की व्याख्या (अर्थ) है। 'चेतन⋯और जीव संयुक्त है' ये दोनों (वाक्यांश) उदाहरण को सूचित करते हैं। 'चेतन' से मनुष्य और जङ्गम पद वाच्य पशु पक्षी आदि का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि चेतन जाति जंगमत्व जाति की व्यापक जाति है, जंगमत्व जाति उसकी व्याप्य जाति है, जैसे मनुष्यत्व जाति ब्राह्मणत्वादि जातियों की व्यापक जाति है, इसलिये उससे (मनुष्यत्व जाति से) ब्राह्मणत्वादि का ग्रहण हो सकता है। परन्तु ब्राह्मणत्व से केवल ब्राह्मणों का ग्रहण होगा सब मनुष्यों का नहीं। इसी प्रकार चेतनत्व जाति से जंगमों (पश्वादि) का भी ग्रहण होता है परन्तु जंगमत्व से केवल तिर्यक् पश्वादि योनियों का ही ग्रहण होगा, मनुष्यों

का नहीं। 'और जीव संयुक्त है' इस वाक्य से वृक्षादि स्थावरों का ग्रहण है क्योंकि 'और' पद यहां समुच्चयार्थक है। अथवा 'चेतन' पद से मनुष्यों का ग्रहण, 'जो कि भोजन के लिये चेष्टा करना' इससे जंगम पशु पक्षी आदि का ग्रहण, तथा 'और जीव संयुक्त है' इससे स्थावरों का ग्रहण (समावेश) साशन जगत् में हो जाता है। इससे यह भाषार्थ भी संस्कृतार्थ से अविरुद्ध है। ऐसा समझना चाहिये।

'दूसरा अनशन अर्थात् जो जड' यहां जड़ से पृथिव्यादि प्रकृति पर्यन्त जगत् का ग्रहण होता है। 'और भोजन के लिए बना है' इस वाक्य से स्थावर पद वाच्य वृक्ष वनस्पति ओषधि आदि जड जगत् का भी ग्रहण 'अनशन' जगत् में हो जाता है। 'क्योंकि उसमें ज्ञान ही नहीं है' यह वाक्य पूर्वोक्त 'भोजन के लिये बना है' इसकी सिद्धि में हेतु रूप से दिया गया है। तथा 'अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता' इस वाक्यांश से सूचित (ध्वनित) होता है कि उस में जीव तो है परन्तु ज्ञान (साधनाभाव के कारण) न होने से चेष्टा नहीं कर सकता। चेष्टा का लक्षण दार्शनिकों ने यह किया है—

'इष्टानिष्ट (हिताहित) प्राप्तिपरिहारानुकूलो व्यापारः (क्रिया)' अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिए जो क्रिया की जावे उसे चेष्टा कहते हैं। चेष्टा जीव का ही धर्म है निर्जीव में सामान्य गति (स्पन्दन) मात्र होती है। चेष्टा उसका धर्म नहीं है। जड वाच्य स्थावरों में चेष्टा उनके अदृष्ट (धर्माधर्म) वशात् पञ्चप्राणों के द्वारा ईश्वर ही कराता है; जिस प्रकार यज्ञादि कर्मानुष्ठान में जडवत् मूढ मन्दमति यजमान के होने पर मन्त्रोच्चारणादि बुद्धिगम्यकार्य पुरोहित स्वयं करके आहुति देना आदि कार्य यजमान से करवाता है।

'परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य....' यहां 'परन्तु' का अवधारण (निश्चय) अर्थ समझना चाहिये। जैसा कि 'परश्च' का होता है। 'इस जगत् के बनाने की सामग्री' यह पुरुष (परमात्मा) के अनन्त सामर्थ्य की व्याख्या समझनी चाहिये।

'सो पुरुष सर्वहितकारक हो के उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है।'

पृथिव्यादि जड जगत् स्थावर (वृक्षादि जड जगत्) का भोजनादि से उपकारक है, उभयविध (दोनों प्रकार का) जड जगत् जङ्गम (पश्वादि) जगत् का भोजनादि से उपकारक है। स्थावर, जंगम और पृथिव्यादि जड जगत्

से मनुष्यों का उपकार होता है। इनकी व्यवस्था करनेवाला ईश्वर ही है इसलिये वही सबका हितकारक है।

दो प्रकार का जगत् (वेद की भाषा में साशन और अनशन है; लौकिक भाषा में पूर्वोक्त चेतन और जड़ है। यदि किसी भी प्रकार के जड में जीव स्वीकार न किया जावेगा तो उसको आनन्दित (आनन्द युक्त) करना और उस का आनन्दित (आनन्द युक्त) होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इसलिये पूर्वोक्त 'सो पुरुष सर्वहितकारक...' इत्यादि वाक्य से ध्वनित (सूचित) होता है कि स्वामी जी स्थावर जडों में जीव का सम्बन्ध मानते हैं।

जिस प्रकार पिता गुरु आदि की अपराधवशात् ताडना के पश्चात् आश्वासन सान्त्वना (पुचकारने) से पुत्र शिष्यादि ताडना के दुःख को भूलकर हर्षित हो जाते हैं तद्वत् परमात्मा उन स्थावर जीवों को कर्मफल भुगताकर पुनः मनुष्यादि प्राणी योनियों में जन्म देकर आनन्दित कर देता है। इस प्रकार पूर्वोक्त वाक्य की संगति लग जाती है।

पृष्ठ ७५ पर आप लिखते हैं—

'जिज्ञासु—....यदा जीवः पूर्वशरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृ वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम्।'

पण्डित जी—यह तो मृत्यु और पुनर्जन्म के मध्य की दशा का वर्णन है। वायु जल आदि में भ्रमण से वायु जल आदि का सजीव होना सिद्ध नहीं होता। (रेलगाड़ी में बैठकर कलकत्ता जाते हुए मेरी उस यात्रा से रेल का डिब्बा चेतन नहीं हो जाता) इत्यादि।

समीक्षा—इस बात का निषेध कौन करता है कि यह मध्य की दशा नहीं है। परन्तु आपने समझाकर विस्तार से वर्णन नहीं किया कि यह भ्रमण कैसे होता है और किस लिए होता है?

आइये दोनों सतीर्थ्य यथार्थ निर्णय करने की भावना से बैठकर परस्पर विचार करें कि यह भ्रमण किस लिये और कैसे होता है।

सिद्धान्ती जी—पण्डित जी प्रथम आप बताइये यह भ्रमण कैसे होता है।

पण्डित जी—भ्राता जी मैंने तो इस विषय को निरर्थक सा समझकर कभी विचार ही नहीं किया यदि आपने विचार किया हो तो आप ही इस पर प्रकाश डालिये। आपके इस कथन से मुझे कुछ जिज्ञासा हुई है।

सिद्धान्ती जी—बन्धुवर! इस विषय पर मैंने विचार किया है। जैसा मैं

समझा है उसे ध्यान देकर श्रवण कीजिए और उसको स्वबुद्धि से पड़ताल कीजिए जो उचित सिद्ध होवे उसे ग्रहण करलें।

मनुष्य मरणानन्तर वायु जगत् में प्रवेश करता है, वहां उसका वायवीय शरीर होता है। जिसमें वायु के अणु प्रधान होते हैं। उसमें उपष्टम्भक (धारक वा सहायक) पार्थिव आदि अणु भी होते हैं। किञ्चित् काल वहां स्थिति करके वह आगे चलता है, और अग्नि (तैजस) जगत् में प्रविष्ट होता है वहां उसका तैजस (आग्नेय) शरीर होता है उपष्टम्भक अन्य पार्थिव आदि अणु होते हैं। तदनन्तर जल जगत् में प्रविष्ट होता है। वहां पर उसका आप्य (जलीय) देह होता है जिसमें प्रधान जल के अणु होते हैं और उपष्टम्भक पार्थिव अणु आदि। किञ्चित्काल पर्यन्त वहां पर स्थिति करके पश्चात् पार्थिव जगत् में प्रवेश करता है। वहां सर्वप्रथम उसको ओषधि वर्ग में प्रतिष्ठा (विशेष काल पर्यन्त स्थिति) होती है। इसके बाद क्षुपवर्ग के स्थावरों में प्रतिष्ठा करता है। मध्य में फलवृक्ष, छायावृक्ष, वनस्पति वर्ग में प्रतिष्ठा करता है। अन्त में स्थावर वर्ग की अंतिम योनि वीरुध् (लता) वर्ग में प्रतिष्ठा करता है। इसके बाद प्राणी योनियों में जन्म होता है।

प्राणि-वर्ग में सर्वप्रथम कृमिवर्ग, तत्पश्चात् कीटवर्ग सरीसृपवर्ग, (मत्स्य, सर्प, कच्छप आदि) पतंगवर्ग, पक्षि-वर्ग की योनियों में जन्म लेकर अन्त में पशुवर्ग के गवादि प्राणियों में जन्म लेता है। इस प्रकार क्रमशः सबसे अन्त में मनुष्य योनि में जन्म धारण करता है।

यह सब वायु जगत् से लेकर पार्थिव (स्थावर) जगत् तक भ्रमण और प्राणी जगत् में जन्म (प्रादुर्भाव) जीवों के पूर्वोपार्जित कर्मानुसार ही ईश्वर की व्यवस्था से होता है अर्थात् यह सब व्यवस्था करनेवाला (प्रबन्धक) ईश्वर है।

पण्डित जी—स्थावर योनियों में जीव को बाह्य सुख दुःख का अनुभव होता है वा नहीं ?

सिद्धान्ती जी—नहीं होता।

पण्डित जी— तो फिर उनमें गति (भ्रमण) करने का क्या लाभ है ?

सिद्धान्ती जी—जिन-२ योनियों में जीव भ्रमण करता हुआ आता है यह उसके स्वभाव परिवर्तन में कारण होता है। जैसे कल्पना कीजिए कोई मनुष्य मरण पश्चात् ओषधि आदि में निम्न प्रकार से गति करता है। चणक (चना) निम्ब (नीम) उर्वारुक (खरबूजा कचरा) आदि, प्राणी जगत् में गण्डेवा,

पिपीलिका, कच्छप, खद्योत, बक, सिंह, आदि। अन्त में मनुष्य शरीर धारण करता है। उस समय उसको अपनी पूर्व मनुष्य योनि के पूर्वोपार्जित संस्कार व कर्मानुसार अपूर्व बुद्धि योग प्राप्त होता है। तथा जिन २ स्थावर व प्राणी योनियों में गति करता हुआ आया है उनकी गति (प्रतिष्ठा व मुक्ति) का भी प्रभाव उसके अन्तःकरण व आत्मा पर होता है। वह प्रभाव उसके नवीन कर्म करने में सहायक व बाधक होता है। अच्छा प्रभाव उन्नति में सहायक निकृष्ट प्रभाव बाधक होता है। यथा—

चणक (चना) में गति (प्रतिष्ठा) का फल उसके स्वभाव में रूक्षता शुष्कता कष्टसहिष्णुता होगी। नीम में गति से वाणी में कटुता होगी। इसी प्रकार तत् तत् प्राणी योनियों का स्वभाव भी कुछ-२ आता है। इस प्रकार अच्छे कर्म करने से पुनः उत्तमोत्तम योनियों में गति और निकृष्ट कर्मों से पुनरपि निकृष्ट योनियों में ही गति करेगा। जिन जीवों को दिव्य ओषधियों व दिव्य सोमलता आदि लताओं में स्थिति होती है, वे दिव्य ओषधियां जिस प्रकार अन्धेरे में भी चमकती हुई अन्धकार को दूर करती हैं। उसी प्रकार उसमें गति करनेवाला जीव जब मनुष्य योनि में आवेगा तब अपने सत्वगुण प्रधान अन्तःकरण के कारण जगत् में अपने समीप के (प्रभाव के) वातावरण में शान्ति प्रेम ज्ञान को प्रसारित करने में सहायक होगा। इस प्रकार वे वायवीय, तैजस, जलीय शरीर व ओषधि आदि पार्थिव देह जीव के उनमें अभिसम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध से स्थिति) के कारण सजीव हैं। इति स्थितम्।

पृष्ठ ७५ पंक्ति ११-१२ पर आप लिखते हैं—

रेलगाड़ी में बैठकर कलकत्ता जाते हुए मेरी उस यात्रा से रेल का डिब्बा चेतन हो जाता। इत्यादि

समीक्षा—रेल यात्रा में आपके डिब्बे में बैठने से डिब्बा तो चेतन नहीं होगा परन्तु गाड़ी आप लोगों के योग (सम्बन्ध) से सवारी गाड़ी कही जावेगी माल गाड़ी नहीं। डिब्बों में लिंग नहीं होता परन्तु आपका डिब्बा मर्दाना डिब्बा कहा जाता है। मातृजनों के योग से डिब्बा भी जनाना डिब्बा कहा जाता है। डिब्बों में भी श्रेणी भेद होता है।

जैसी कोई पुंजी खर्च करेगा तदनुसार डिब्बों में बैठेगा। यद्यपि त्रिविध प्रकार के डिब्बों में बैठे हुए सभी यात्री कलकत्ते जा रहे हैं, परन्तु डिब्बों के रहन-सहन का, वातावरण का अच्छा वा बुरा प्रभाव आपके स्वास्थ्य पर

पड़ता ही है और वह प्रभाव आप लोग जिस उद्देश्य से कलकत्ता जारहे हैं वहां पहुंचने पर आपके कार्य में सहायक व बाधक सिद्ध हो सकता है।

इस प्रकार सिद्ध है कि ओषधि आदि स्थावर जड़ (ज्ञानादि रहित) होते हुए भी जीव से अभिसम्बन्धित अर्थात् सजीव हैं।

पृष्ठ ७५ पंक्ति १८ पर आप लिखते हैं—

'वायु जल ओषधि आदि में जीव का भ्रमण जन्म नहीं होता। अपितु जन्म तो माता पिता के शरीर में प्रविष्ट होने के पश्चात् रेतस् में आने के अनन्तर ही होता है।'

समीक्षा—एक योनि वा शरीर से निकल कर दूसरी योनि वा शरीर में प्रविष्ट होना ही भ्रमण है। माता पिता के शरीर में प्रविष्ट होकर रज वा वीर्य में जाकर गर्भ में ठहर कर शरीर धारण करके बाहर प्रकट होना रूप जन्म तो मनुष्यादि विशिष्ट प्राणियों में ही सम्भव है। प्राणीमात्र के लिये भी यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि बहुत से क्षुद्र जन्तु (प्राणी) तो माता पिता के संयोग के बिना ही पैदा हो जाते हैं। ऋषि दयानन्द के मतानुसार शरीर से संयोग (अभिसम्बन्ध रूप) होने का नाम 'जन्म' और शरीर से वियोग की मृत्यु संज्ञा है। अतः वायु जल ओषधि आदि में होनेवाले स्थावर शरीर के साथ जीव के सम्बन्ध को 'जन्म' की संज्ञा देने में कोई आपत्ति नहीं है।

पृष्ठ ७५ पंक्ति २१ पर आप लिखते हैं—

'अतः वृक्षौषधि किसी दशा में भी उपरोक्त मंत्र से चेतन सिद्ध नहीं किये जा सकते।'

समीक्षा—'द्वे सृती अशृणवम्' इत्यादि मन्त्र से वृक्षादि को चेतन कौन सिद्ध करना चाहता है? हमें तो केवल इस मंत्र के ऋषि दयानन्द के संस्कृत भाष्य और हिन्दी भाषाभाष्य से वृक्षादि में कर्मानुसार जीव की गति (विद्यमानता) सिद्ध करना अभिप्रेत है। यह बात भली प्रकार उनसे सिद्ध हो जाती है।

पूर्वोक्त पृष्ठ ७५ पंक्ति २२ से आगे आप लिखते है—

'यही बात स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में निम्न शब्दों में व्यक्त की है।

परमेश्वर इस (उस) जीव के पाप पुण्यानुसार जन्म देता है। वह वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। पृष्ठ ७६ पर आपने सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास का एक

प्रश्न उद्धृत किया है जो निम्न प्रकार से है—

प्रश्न—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण, गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि, कृमि, कीट, पतंग आदि जन्म दिये हैं, इससे परमात्मा में पक्षपात आता है।' इसमें आपका कथन है कि यहां 'वृक्षादि' के स्थान पर 'वृक्षस्थ' होना चाहिये, जो प्रेस की भूल से वा लेखकों की कृपा (धूर्त्तता) से वृक्षादि कर दिया गया है।

इसमें आपने दो हेतु दिये हैं प्रथम वृक्षादि के बाद अर्धविराम का चिह्न नहीं है। द्वितीय हेतु है कृमि कीट पतंगादि के पूर्व 'किन्हीं को' शब्द नहीं है जो भाषा के अनुसार होना चाहिये था। किन्तु 'वृक्षादि' के स्थान पर 'वृक्षस्थ' पद स्वीकार कर लेने पर पूर्वोक्त दोनों बातों की आवश्यकता नहीं रहती। अन्यथा 'वृक्षादि' पद कृमि कीट पतंगादि का विशेषण माना जायेगा जो कि अनुचित (अयुक्त) है।

समीक्षा—यहां पर आये (लिखित) मनुष्यादि नाम योनि वाचक जानने चाहिएं। समझाने के लिए इस महावाक्य के सात खण्ड वाक्य करने पड़ेंगे। तद्यथा—१. ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य योनि में जन्म दिया है।

२. ईश्वर ने किन्हीं जीवों को सिंहादि क्रूर पशु योनि में जन्म दिया है।

३. ईश्वर ने किन्हीं जीवों को हरिण गाय आदि अक्रूर पशु योनि में जन्म दिया है।

४. ईश्वर ने किन्हीं जीवों को वृक्षादि (स्थावर) योनियों में जन्म दिया है।

५. ईश्वर ने किन्हीं जीवों को कृमियोनि में जन्म दिया है।

६. ईश्वर ने किन्ही जीवों को कीट योनि में जन्म दिया है।

७. ईश्वर ने किन्हीं जीवों को पतंगादि योनियों में जन्म दिया है।

परन्तु आपके संशोधन के अनुसार ३ वाक्य ही बनेंगे। चतुर्थ वाक्य नहीं बनेगा। अन्तिम तीन वाक्य निम्न प्रकार बनेंगे—

४. ईश्वर ने किन्हीं जीवों को वृक्षस्थ कृमि योनि में जन्म दिया है।

५. ईश्वर ने किन्ही जीवों को वृक्षस्थ कीट योनि में जन्म दिया है।

६. ईश्वर दे किन्हीं जीवों को वृक्षस्थ पतंगादि योनियों में जन्म दिया है।

इस प्रकार तीनों वाक्यों में वृक्षस्थ पद का और (किन्हीं के) इस पद का भी अध्याहार करना पड़ेगा; क्योंकि कृमि, कीट, पतंगादि एक योनि नहीं है;

भिन्न-२ योनियां हैं। तथा 'वृक्षादि' पद के स्थान पर 'वृक्षस्थ' परिवर्तन कर देने पर आपका संशोधन निरर्थक हो जाता है क्योंकि वृक्षस्थ कृमि, वृक्षस्थ कीट, वृक्षस्थ पतंगादि कहने में क्या तुक है ? क्या वृक्षों से अन्यत्र वायु जल स्थलादि में कृमि कीटादि नहीं होते ? होते हैं। ऐसी अवस्था में 'वृक्षस्थ' पद को उड़ा ही देना उचित है जिससे अन्य जल स्थलादि के कृमि आदि का भी ग्रहण हो सके। इसलिये पूर्वोक्त पाठ ही उचित है। शेष रहो नुक्ता अर्धविराम न लगाने की बात। उसके लिए—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः न हि संदेहाद-लक्षणम्' इस भाष्यकार के वचनानुसार कार्य करना चाहिये। अर्थात् किसी विषय में सन्देह होने पर उसकी विशिष्ट व्याख्या से उसका ज्ञान करना उचित है। सन्देह मात्र से उसको त्याग देना उचित नहीं है। इसके बाद आपने ७७ पृष्ठ से ८३ पृष्ठ तक प्रमाणों द्वारा वृक्षादि को जड़ सिद्ध किया है तथा उनकी चेतनता का खण्डन किया है, वह यथार्थ है। परन्तु मध्य-२ में कुछ-२ विरुद्ध लेख भी है। तद्यथा—

पृष्ठ ७७, ७८ पर लिखा है—स० प्र० ८म समु० की ये पंक्तियां विचारणीय हैं।''''उनसे (पंचभूतों से नाना प्रकार की ओषधियां, वृक्ष आदि उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है।''

उपर्युक्त वचन में स्वामी जी ने शरीर रचना का कारण क्रम (कारणों का नम्बर) बतलाया है जिससे यह प्रकट होता है कि—शरीर का कारण वीर्य, वीर्य का कारण अन्न और अन्न का कारण वृक्षादि ओषधियां हैं। अतः जब तक शरीरों का कारण वीर्य ही उत्पन्न नहीं हुआ है तब तक वृक्षों को शरीर-धारी कैसे कहा जा सकता है ? और जब वृक्ष शरीरधारी ही नहीं तब उन्हें सजीव प्राणी कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि शास्त्र के अनुसार कार्य का कारण से पूर्व होना असम्भव है।

समीक्षा—पण्डित महोदय ! 'वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है' यहां पर शरीर से तात्पर्य प्रत्येक प्राणी वा अप्राणी के शरीर से नहीं है, अपितु मनुष्य शरीर से है। क्योंकि स्वामी जी का लेख 'रेतसः पुरुषः' इस उपनिषद् के वचनानुसार है। अथवा शरीर से प्रत्येक प्राणी का शरीर जो रज वीर्य के योग से उत्पन्न होता है ग्रहण किया जावे तब भी कोई आपत्ति नहीं है। 'शरीर' से यहां अप्राणी शरीर का ग्रहण नहीं है क्योंकि उसकी तो उत्पत्ति प्रथम ही प्रतिपादित की जा चुकी है। वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके 'दोषोद्भावन' दोष का उद्भावन करना न्यायशास्त्रानुसार छल कहा जाता है।

शायद आपने वृक्षादि को भी मनुष्यादि प्राणियों का एक भेद मान लिया है ? तभी तो आप लिखते हैं—जब तक शरीरों का कारण वीर्य उत्पन्न न हो जावे तब तक वृक्षों को 'शरीरधारी' कैसे कहा जा सकता है, ऐसा लिख दिया। जब वृक्ष और ओषधियां मनुष्यादि से पूर्व (अन्न के कारण रूप में) उत्पन्न हो चुके फिर 'शरीरधारी वृक्ष' कौनसे शेष रह गये हैं जिनको आप शरीरी मानकर उत्पन्न करना चाहते हैं। यह आपका असम्बद्ध लेख है। क्योंकि—पंचभूतों से वृक्ष, ओषधियां बन गई, उनका जीव अनुत्पन्न (नित्य) है उसकी उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

क्या आपका अभिप्राय यह है कि जब तक वीर्य से पुरुष शरीर न बन जावे तब तक किसी प्राणी जीव का शरीर बन ही नहीं सकता ? ऐसा मन्तव्य भी आपका अयुक्त है क्योंकि ऊष्मज प्राणी वृक्षादि की उत्पत्ति के समकाल में ही उत्पन्न होते हैं।

आपके पूर्वोक्त कथनानुसार तो अयोनिज मनुष्यादि प्राणी देहों को भी शरीर नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका शरीर रज वीर्य के संयोग से नहीं बना है।

तथा च—'अन्नाद्रेतो रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इसका अभिप्राय है कि—गेहूँ आदि ओषधियों से अन्न उत्पन्न होता है, उनके भक्षण से वीर्य (यह रजः का भी उपलक्षण है) और रज उत्पन्न होते हैं; रज वीर्य के संयोग से पुरुष शरीर (स्त्री पुरुष के देह) उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह पुरुष पृथिवी और जल प्रधान है। पुरुष शरीर उपलक्षणतया पशु आदि शरीर का भी ग्राहक है क्योंकि प्रधान के ग्रहण से अप्रधान का भी ग्रहण हो जाता है इस नियम से, क्या आपके मत में अन्नादि के भक्षण बिना ही रज वीर्य उत्पन्न हो जावेंगे। रज वीर्य की उत्पत्ति से पूर्व यदि शरीर नहीं था तो रज वीर्य का संयोग किस प्रकार होगा और कहां होगा तथा रज वीर्य की उत्पत्ति भी किस प्रकार होगी यह बताने का भी कष्ट करें। इसलिये रज वीर्य की उत्पत्ति के लिये आपको प्रथम अयोनिज शरीर स्वीकार करने पड़ेंगे।

इसलिये प्रत्येक प्राणी अप्राणी शरीर के लिए वीर्य का प्रथम होना आवश्यक है। यह आपकी कल्पना मिथ्याकल्पना है। क्या अन्न जल आदि के गलने सड़ने से उत्पन्न कृमि वीर्य से उत्पन्न होते हैं। तथा जिन तामस अणुओं के योग से उनके शरीर बनते हैं उनको रज वीर्य की संज्ञा दी जा सकती है ?

मिथ्या कल्पनाओं पर आधारित उपपत्तियाँ कब सिद्ध होती है ?

पृष्ठ ७८ पंक्ति २० पर आप लिखते हैं—

'अतः वृक्षों को शरीरधारी मानना स्वामी जी के विचार के प्रतिकूल सिद्ध होता है।'

समीक्षा—वृक्षादि शरीरधारी नहीं हैं यह स्वामी जी ने कहीं नहीं लिखा अपितु इसके विपरीत यत्र तत्र उनके ग्रन्थों में लेख मिलते हैं। आप अपने दुराग्रह के कारण उनको न स्वीकार करें वा उनको अन्यथा सिद्ध करें तो बात दूसरी है।

जिस प्रकार जीव कर्मानुसार मनुष्य पशु आदि के शरीर भोग के लिए (सुख दुःख अनुभव करने के लिए) प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वृक्षादि स्थावर शरीर भी भोगार्थ (भोग को तैयारी के लिए) प्राप्त होता है। ऐसा मनु आदि धर्मशास्त्रकार तथा महर्षि दयानन्द जी महाराज भी स्वीकार करते हैं।

जैसे—ऋग्वेद १-२३-२१ महर्षि दयानन्दभाष्य के भावार्थ में लिखा है—

'नैव प्राणैर्विना कश्चित्प्राणी वृक्षादयश्च शरीरं धारयितुं शक्नुवन्ति।'

अर्थ—प्राणों के बिना कोई भी (मनुष्यादि) प्राणी और वृक्षादि (अप्राणी) शरीर धारण नहीं कर सकते।

तथा—महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेदभाष्य ३५-१५ के पदार्थ में लिखा है—

(जीवेभ्यः) प्राणधारकेभ्यः स्थावरशरीरेभ्यश्च।

भाव—'जीवेभ्य' यह पद चतुर्थी विभक्ति का बहुवचन है जिसका अर्थ है 'जीव के लिए'। इसका विवरण स्वामी जी करते हैं—कि दो प्रकार के संसार में जीव हैं प्रथम प्राणी अर्थात् चेतन ज्ञानादि गुण सहित। दूसरे जड़= ज्ञानादि गुण रहित स्थावर (वृक्षादि) शरीरवाले, इन सब जीवों के लिये 'इमं परिधिं दधामि' इस वाक्य का सम्बन्ध है।

इसी प्रकार यजु० अ० ३९-११ के भावार्थ में—

'मनुष्यैः पुरुषार्थादिसिद्धये सत्या वाग् मतिः क्रिया चानुष्ठेया येन देहान्तरे जन्मान्तरे च मंगलं स्यात्।'

अर्थ--मनुष्यों को पुरुषार्थ आदि की सिद्धि के लिये सत्य वाणी, सत्य मति (बुद्धि) और सत्य कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे देहान्तर में और जन्मान्तर में मंगल (हित) होवे।

यहां पर देहान्तर और जन्मान्तर दो अलग-२ पद दिये हैं। क्या जन्मान्तर पद से ही कार्य सिद्ध नहीं होता? जन्म बिना देह (शरीर) के होता ही नहीं। तब देहान्तर से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिरभिसम्बन्धो जन्म' (न्याय वात्स्यायन०) नवीन शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि से अभिसम्बन्ध (स्वस्वामिभाव से सम्बन्ध) होना जन्म है। यह जन्म का लक्षण प्राणी शरीरों में ही चरितार्थ होता है, जड़ (ज्ञान रहित) स्थावर शरीरों में नहीं। अतः यत्र तत्र इनके लिए जन्म शब्द के प्रयोग को गौण समझना चाहिए' इस प्रकार का मुख्य नहीं। अतः यहां पूर्वोक्त भावार्थ में देहान्तर से स्थावर शरीर अभिप्रेत है।

इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश १२वां समुल्लास, 'पंचावयवयोगात् सुखसंवित्तिः' सांख्य ५-२७ के नीचे ८-१० पंक्ति पश्चात् लिखा है—

'वायुकाय अथवा अन्य स्थावर शरीरवाले जीवों को सुख वा दुःख प्राप्त कभी नहीं हो सकता।'

इससे सिद्ध है कि जीवों को स्थावर (वृक्षादि) शरीर भी प्राप्त होता है।
इसी प्रकार फर्रुखाबाद में पौराणिक मण्डल ने २५ प्रश्न लिखकर भेजे थे। उनमें २१ वां प्रश्न निम्न प्रकार है—

प्रश्न २१.—जीवात्मा संख्यात हैं वा असंख्यात, कर्म से मनुष्य पशु अथवा वृक्षादि योनि में उत्पन्न हो सकता है वा नहीं?

उत्तर २१.—ईश्वर के ज्ञान में जीव संख्यात हैं, मनुष्य के अल्पज्ञान में असंख्यात। पापादिक कर्म करने से मनुष्य वृक्षादि योनियों में पैदा होता है।

एक मनुष्य (देव पितर मर्त्य) दूसरे चेतन की व्याप्य जाति जंगम (पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि)। अप्राणी (जड़) जगत् के भी दो भेद, एक स्थावर वृक्षादि सजीव। दूसरे जड़ पृथिव्यादि निर्जीव। पूर्वोक्त सन्दर्भ में प्राणियों में चेतन का उदाहरण नहीं दिया, क्योंकि वे तो उपदिश्यमान हैं अर्थात् उनको तो कर्म करने का उपदेश दिया जारहा है। अतः उनका दृष्टान्त नहीं हो सकता। दूसरे जंगम जगत् में सबसे अधिक पिपीलिका ही स्वकर्म में प्रयत्नशील रहती है अत एव उसका उदाहरण दिया। इसके बाद जड़ों में शाश्वतिक जड़ पृथिव्यादि हैं अतः उनका दृष्टान्त दिया। इससे तो हमारे ही मत की पुष्टि होती है आपके मत की नहीं। क्योंकि आपके ६८ पृष्ठ पर लिखे—"स्वामी जी स्थावर और जड़ को पर्यायवाची मानते हैं" इसका खण्डन हो जाता है। क्योंकि पृथिव्यादि जड़ हैं उनका दृष्टान्त दे दिया गया पुनः उसी का दृष्टान्त देने की क्या आवश्यकता रह जाती है; आदि शब्द से ही उनका भी ग्रहण हो जाता। स्वामी जी 'आदि' शब्द से उनका ग्रहण नहीं लेते अत एव स्थावर वृक्षादि के दृष्टान्त का पृथक्

निर्देश किया।

स्वामी जी तो दोनों जड़ भेदों की दो भिन्न २ प्रकार की सत्ताएं समझते हैं तभी पृथक्-पृथक् जातियों का एक-एक दृष्टान्त दे दिया।

इसी प्रकार प्रथम समुल्लास के 'लक्ष्मी' शब्द की व्याख्या के विषय में भी समझना चाहिये।

प्रश्न–आपने प्रथम कथन किया था कि जीव वृक्षादि स्थावरों में सर्वप्रथम ओषधि वर्ग की योनियों में गति करता है (पैदा होता है) इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर—इस विषय में ऋग्वेद १०-१६-३ मंत्र प्रमाण है।

ओम् सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीञ्च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥

किञ्चित्पाठ भेद से यही मंत्र अथर्ववेद में भी आया है। दोनों मंत्रों का विनियोग स्वामी जी महाराज व अन्य विद्वानों ने अन्त्येष्टि कर्म में किया है।

मन्त्रार्थ—हे गतप्राण! अस्माकं सम्बन्धिन् जीवात्मन् तव (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणामतः सर्वाणीन्द्रियाणि चक्षुःपदेन गृह्यन्ते, तानि (सूर्यम्) सर्वेन्द्रियप्रकाशकं प्रेरकं वा अन्तःकरणं मनः (गच्छतु) गतानि प्राप्तानि तदन्तर्लीनानि संजातानि (आत्मा) अतति सततं गच्छति शरीरमध्ये गच्छति व्याप्नोति चेष्टयति वा सर्वशरीरं स शरीरस्थो धनञ्जयादिरूपो प्राणाख्यो वायुः (वातं गच्छतु) कारणरूपं वायुं प्राप्तः प्राप्नोतु वा (पृथिवीं च) चकारेण पृथिवी-भागः समुच्चीयते, अस्य शरीरस्य स्थूलः पृथिवीभागः अस्थ्यादिरूपः पृथिवीं गच्छतु (महर्षि दयानन्द का जीवन चरित भाग २ पृष्ठ २०६-७, संग्रहकर्त्ता श्री घासीराम जी एम०ए०, एल०एल०बी० एडवोकेट मेरठ)।

इससे पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि वृक्षादि स्थवरों को (स्थावर जीवों को) शरीरधारी मानना स्वामी दयानन्द जी महाराज के विचार के अनुकूल है। तथा उनको शरीरधारी स्वीकार न करना उनके मन्तव्य के विरुद्ध है।

पृष्ठ ८१ पंक्ति १६ पर तथा आगे भी आप लिखते हैं—

२. देखो सृष्टि के बीच में जितने प्राणी अथवा अप्राणी हैं, वे सब अपने २ कर्म और यत्न करते ही रहते हैं। जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि बढ़ते घटते रहते हैं। सत्यार्थ० समु०७ कुर्वन्नेवेह कर्माणि० मन्त्र की व्याख्या।

यहां भी स्वामी जी ने प्राणी अर्थात् चेतन के दृष्टान्त में पिपीलिका को और जड़ के दृष्टान्त में (उदाहरण में) पृथ्वी तथा पार्थिव वृक्ष आदि को रख कर उनका जड़त्व सिद्ध किया है।

३ ....। सत्यार्थ० प्रथम समु० 'लक्ष्मी' शब्द की व्याख्या—यहां पर भी शरीर के शब्द से चेतन तथा वृक्ष के शब्द से जड वस्तुओं में वृक्षादि को रखना वृक्षों को जड सिद्ध करता है।

समीक्षा–पूर्वोक्त (प्रथम दिन के सम्वाद प्रकरण में) प्रतिपादन के अनुसार स्वामी जी जगत् के दो भेद मानते हैं एक प्राणी दूसरे अप्राणी। प्राणियों के भी दो भेद, भस्मरूपेण भूत्वा स्वकारणं पृथिव्यामेव लयं भवतु (अपः वा) अत्र वा चार्थे वर्त्तते तेन आपः समुच्चीयते। शरीरस्था आपः जलभागः अपः गच्छन्तु स्वकारणे जले विलयं यान्तु। (द्याम् च गच्छ) शरीरस्थं तेजो भागः चकारेण समुच्चीयते तत् स्वकारणं विद्युदाख्यं गच्छतु तत्र विलयं प्राप्नोतु। (यदि) चेद् अर्थे सम्भावनायामिदमव्ययम् (धर्मणा) कर्मणा स्वपूर्वोपार्जित-कर्मणा (तत्र ओषधीषु) तासु प्रसिद्धासु यवादिषु (शरीरैः) त्रिभिः स्थूल-सूक्ष्म-कारणाख्यैः शरीरैः सह (प्रतितिष्ठा) त्वं तत्र स्थितिं प्राप्नुयास्तर्हि (तत्र ते हितम्) तासु ओषधीषु स्थित्या तव कल्याणमेव भवेत् इति ईश्वरं प्रार्थयामः।

हिन्दी भाषार्थ–मरण के बाद शरीर दाह का संस्कार करते समय सम्बन्धी इष्ट जन कहते हैं–हे हमारे प्रेत (शरीर त्याग कर गये) सम्बन्धी जीवात्मन् तेरी इन्द्रियां अन्तःकरण में लीन हो गई हैं पंचतत्त्व भी यथासम्भव स्व २ कारण तत्त्व में कुछ मिल गये कुछ मिल जावेंगे। तेरा आत्मा (स्वरूप) वाय्वाकाश में चला गया है। इस गति काल में यदि तुम्हारी प्रारब्ध कर्मानुसार ओषधि आदि में प्रतिष्ठा (विशिष्ट स्थिति) होती वहां भी तुम्हारा कल्याण हो। ऐसी हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। इस मन्त्र में वृक्षादि स्थावर योनियों में से केवल ओषधि शब्द का नाम लेना इस बात का सूचक है कि उन में ही प्रथम स्थिति होती है। हम अल्पज्ञ मनुष्य चाहे उदाहरण के लिए जिस किसी का भी उदाहरण प्रस्तुत करदें परन्तु वेद ईश्वरोक्त वाणी है इसलिए उसका प्रत्येक शब्द यथास्थान कुछ न कुछ प्रयोजन विशेष रखता है। तथा—स्वामी दयानन्द जी ने भी 'वायु-जल-अषोध्यादिषु भ्रमित्वा' ऐसा कहकर प्रथम ओषधि का ही नाम निर्देश किया है। इससे हम समझते हैं कि— जीव भ्रमण करता हुआ जब पार्थिव जगत् में प्रवेश करता है तब उसका सर्वप्रथम प्रवेश (गति) ओषधिवर्ग के स्थावरों में होता है।

(प्रश्न) पण्डित जी—आपने प्रथम यह भी तो निर्देश किया था कि स्थावर जगत् में सबसे अन्त में जिस योनि में जीव की स्थिति होती है वह विरुध् (लता=बेल) वर्ग है। इसमें क्या प्रमाण है।

(उत्तर) सिद्धान्ती जी—इस विषय में निम्नलिखित वेदमंत्र प्रमाण है—

ओम् इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तद् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥
(अथर्व० का० १।३२।१)

संस्कृतार्थ—सत्योपदेष्टा विद्वान् जनोऽन्यान् उपदेशयान् प्रतिवदति (जनासः) हे मनुष्याः यूयं यदिद पापेच्छाकाले निवारकं धर्मानुष्ठाने च उत्साह-वर्धकं, जगत् उत्पत्ति-स्थिति-लयकर्तृ वर्त्तते तदिदं (ब्रह्म विदथ) सर्वोपरि विराजमानम् अनन्तबलं परमात्मानं जानीत । परमप्रीत्या (श्रद्धया) तपस्यतः धर्मानुष्ठानं विदधतः अत एव शुद्धान्तःकरणान् युष्मान् प्रति (वदिष्यति) वेदाख्यं सत्यज्ञानं उपदेक्ष्यति । तत् एतादृशं तद् ब्रह्म (पृथिव्याम् न) भूमेरारभ्य प्रकृतिपरमाणुपर्यन्ते जडात्मके जगति, प्रकाश्यलोकेषु वा नान्तर्भवति, ततः स्वानन्दस्वरूपेणैव विराजमानोऽस्ति । (नो दिवि) ज्ञानेन द्योतमाने चरे जगति प्रकाशकलोकेषु वा नान्तर्भवति, एषु व्यापकः सन् ततः पृथगेव वर्त्तते कुतः (महत्) यतस्तद् ब्रह्म परमेश्वरः सर्वमहान् सर्वपूज्यश्च वर्त्तते । (येन प्राणन्ति वीरुधः) येन सर्वप्रकाशकेन ब्रह्मणा तमसि (अज्ञानान्धकारे) निमग्ना विरोहण-शीलाः स्थावरा जीवाः प्राणान् धारयन्ति प्राणिनो भवन्ति जडत्वात् पृथग्भूय चेतनाः प्रकटितज्ञानेच्छादिगुणा भवन्ति । यथा पचति=पाकं करोति, तद्वत् प्राणन्ति=प्राणान् धारयन्ति इति बोध्यम् ।

हिन्दी भावार्थ—विद्वान् उपदेष्टा साधारण मनुष्यों को उपदेश देते हुए कहता है— (जनासः) हे सज्जनो ! तुम (महत् ब्रह्म विदथ) जो सबसे बड़ा सर्व-व्यापक परब्रह्म परमात्मा है उसको मानो जानो और प्राप्त करो उसका साक्षात्कार करो । (वदिष्यति) जो सबके अन्तःकरणों में विराजमान होकर सत्यमार्ग का उपदेश करता है । वह परमात्मा (न पृथिव्यां नो दिवि) जड़ पृथिवी आदि से तथा चेतन मनुष्यादि से व्यापक होते हुए भी पृथग् ही अपने आनन्द स्वरूप में निमग्न रहता है । (येन प्राणन्ति वीरुधः) जिस परमात्मा की कृपा से विशिष्ट प्रकार से घटने बढ़नेवाले स्थावर लतादि प्राणी=चेतन= ज्ञानेच्छादि गुण युक्त हो जाते हैं ।

भाव—इस मन्त्र में तीन प्रकार का जगत् बताया गया है । एक पृथिवी आदि अचर (जड़) दूसरा 'दिव्' शब्द से चेतन मनुष्यादि चर (चेतन) तीसरा स्थावर, जो इन दोनों के मध्य में है । वह वर्त्तमान काल में जडावस्था में है।

परन्तु कालान्तर में प्राणी (चेतन) हो जाता है । इससे स्थावर जगत् में जीव होना सिद्ध होता है ।

पूर्वोक्त प्रकार से ऊहा करने पर यहां पर भी हम कह सकते हैं कि लता वर्ग की योनि में स्थिति के बाद जीव प्राणी वर्ग की योनियों में प्रवेश (गति=जन्म) पाता है । क्योंकि 'येन प्राणन्ति स्थावराः' इत्यादि प्रकार से भी निर्देश किया जा सकता था । 'विरुधः' के कथन से सूचित होता है कि यह स्थावरों में अन्तिम योनि है जिसके पश्चात् प्राणी योनि प्रारम्भ होती है । लक्षणों (चिह्न) से भी उसकी संगति बैठती है ।

जीवात्मा की स्थिति का बोधक 'गति' लिङ्ग भी शास्त्रकारों ने बताया है । गति का अर्थ स्वामी जी ने यथेष्टगमन किया है । वह अन्य स्थावरों की अपेक्षा वीरुधों (बेलों में) सर्वाधिक है । यह आश्रय पाकर चोटी (शिखर) तक पहुँच जाती है । अपने आश्रय भूत वृक्षादि पर सर्वत्र छा जाती है । भूतल पर भी स्वल्प काल में चारों ओर फैल जाती है । जिस प्रकार प्राणी हस्त-पादादि से दूसरों को पकड़ लेते हैं तद्वत् ये भी अपने अवयवों से आश्रय आदि के लिपट जाती हैं । इससे लक्षित होता है कि ये अन्य स्थावरों की अपेक्षा प्रबोध काल के समीप है ।

(प्रश्न) पण्डित जी—आप कहते हैं ऋषियों के वचनों में विरोध नहीं हुआ करता । इस विषय में तो साक्षात् विरोध प्रतीत हो रहा है । स्वामी दयानन्द जी वृक्षादिक को जड़ कहते हैं । कणाद व पाणिनि प्रभृति मुनि भी इनको अप्राणी ही स्वीकार करते हैं । परन्तु धर्मशास्त्रकार मनु जी इनको चेतन कहते हैं ।

(उत्तर) सिद्धान्ती जी—सभी एक मत हैं, विरोध किसी का नहीं है; जो विरोध किसी को प्रतिभासित होता है वह उनकी मति (समझ) की कमी है ।

(प्रश्न) पण्डित जी—देखिए मनुस्मृति में क्या लिखा है—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥
(मनु० अ० १-४९)

इसमें स्पष्ट लिखा है कि ये स्थावर वृक्षादि सुख दुःख से समन्वित हैं । जब सुख दुःख का इनके साथ सम्बन्ध है तो चेतन हो गये जड़ न रहे ।

(उत्तर) सिद्धान्ती जी—आपके ऐसा मानने में दोष है ।

पण्डित जी—क्या दोष है ?

सिद्धान्ती जी—जिस प्रकार 'एते' का विशेषण 'सुखदुःखसमन्विता' है उसी प्रकार 'एते' का 'अन्तःसंज्ञा' यह पद भी विशेषण है। इससे परस्पर विरोध आता है।

पण्डित जी—किस प्रकार ?

सिद्धान्ती जी—देखिए यदि ये स्थावर 'अन्तःसंज्ञ' हैं तो इनको बाह्य सुख दुःख नहीं हो सकता क्योंकि संज्ञा कहते हैं चेतना को, चेतना नाम संज्ञा का पर्यायवाची है। जब इनमें बाह्य ज्ञान है ही नहीं तब इनको बाह्य सुख वा दुःख किस प्रकार हो सकता है? यदि बाह्य सुख दुःख होता तो 'अन्तःसंज्ञ' नहीं हो सकते, यह परस्पर विरोध है। इसलिए इस दोष के परिहार के लिए इस प्रकार अन्वय करना चाहिये—

(एते) ये वृक्षादि स्थावर (कर्महेतुना बहुरूपेण तमसा वेष्टिताः भवन्ति) कर्म कारणक बहुरूपी तमोगुण से आच्छन्न व्याप्त वेष्टित रहते हैं। और (ऐषाम्) इनकी (सुख दुःख समन्विता संज्ञा अन्तः भवति) सुख दुःख से सम्बन्ध रखनेवाली संज्ञा=चेतना अन्तर्लीन होती है, आत्मा में तिरोहित रहती है जिससे इनको बाह्य सुख दुःख का भान नहीं होता। सुख दुःख का सम्बन्ध संज्ञा से है, जहां संज्ञा है वहीं सुख दुःख होता है। जहां संज्ञा नहीं होती वहां सुख दुःख भान भी नहीं होता। इसलिए असंज्ञा (ज्ञान शून्य अवस्था) बेहोशी में बाह्य सुख दुःख भी नही होते। यह सर्वविदित है। इसलिये 'सुखदुःखसमन्विता' पद का अन्वय (सम्बन्ध) 'संज्ञा' पद से करना चाहिये।

पण्डित जी—ऐसा करना अन्वय के विरुद्ध है। क्योंकि 'अन्तःसंज्ञा' यह पद बहुव्रीहि समासान्त है।

(उत्तर) सिद्धान्ती जी—'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य तत्।
अर्थतो ह्यसमर्थानामान्तर्यमकारणम् ॥'

जिस पद का जिस पद के साथ अर्थकृत सम्बन्ध है उसका उसी के साथ सम्बन्ध करना चाहिये। उसमें अन्य कोई कारण बाधक नहीं हो सकते। अर्थकृत सम्बन्ध के अभाव में पदकृत सामीप्य के समान विशेषणता भी कोई प्रयोजन नहीं रखती।

शाब्दी योजना में और आर्थी योजना में परस्पर विरोध होने पर आर्थी योजना प्रमाण मानी जाती है, शाब्दी योजना नहीं। इसलिये हमारी योजना भी समुचित है। यही ग्रन्थकार को भी अभिप्रेत है। क्योंकि उन्होंने 'एते' का एक विशेषण दिया है 'तमसा वेष्टिताः' अर्थात् तमोगुण से व्याप्त।' तमो-

गुण का एक कार्य अज्ञान भी है। जब ये घोर अज्ञान से घिरे हुए हैं जैसे कि प्राणी सुषुप्ति दशा में होते हैं तब इनको सुख दुःख की प्रतीति कैसे हो सकती है? सुख दुःख का अनुभव तो ज्ञान होने पर ही सम्भव है। इस प्रकार मनु जी तो इनको अचेतन जड (ज्ञान शून्य) ही स्वीकार करते हैं। आपके समझने में भूल है।

पृष्ठ ८२ पंक्ति ३ से २२ तक, आपने महर्षि स्वामी दयानन्द जी के यजुर्वेद भाष्य ५।१५ के भावार्थ का उद्धरण देकर उसके भाव (अभिप्राय) से सिद्ध किया है कि स्वामी जी वृक्षादि को जड मानते हैं चेतन नहीं।

आपके इस मन्तव्य पर हमको कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु स्वामी जी महाराज वृक्षादि को जड मानते हुए उनको जीव सहित योनि विशेष भी मानते हैं। इस विषय में अन्य पूर्वोक्त प्रमाणों के साथ निम्नलिखित प्रमाण भी द्रष्टव्य है।

'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित २य संस्करण सं० २०१२ पृष्ठ १५३ पर अंग्रेजी में लिखित पत्र (श्रीमती क्लेवेस्टको को) "When sins increase and virtues decrease the soul is sent to lower creation and vegitable word."

हिन्दी अनुवाद—जब सुकर्म घटते जाते हैं और कुकर्म बढते जाते हैं तो आत्मा गिर कर पशु पक्षियों तथा घास फल सब्जी आदि को योनियों में चली जाती है।

सातवें दिन के सम्वाद की समीक्षा समाप्त हुई।

आठवें दिन के संवाद की समीक्षा

इस संवाद में मुख्य रूप से मंगलानन्द पुरी जी की बनाई हुई पुस्तक, वृक्ष में जीव है पर विचार किया गया है।

प्रथम पुस्तक का नाम लेखक ने अपने विचारों के अनुसार उपयुक्त ही रखा है। क्योंकि वे वृक्षादि में जीव मानते हैं। परन्तु पुरी जी वृक्षादि के जीव को चेतना सहित मानते हैं उनका यह कथन अयुक्त है।

पुरी जी को जिन-जिन समुचित बातों के खण्डन का प्रयास माननीय पण्डित जी ने किया है, उनका समुचित उत्तर देने का प्रयत्न यहां किया जायेगा।

पृष्ठ ८५ पंक्ति १९ में आप लिखते हैं—

"सत्यार्थप्रकाश के १२ वें समुल्लास की पंक्तियों में 'स्थावर शरीरवाले जीवों को सुख दुःख प्राप्त नहीं होता' इस वाक्य में यदि पुरी जी स्थावर शरीर सजीव सिद्ध करते हैं तो वायुकाय शरीर से क्या वायु को भी सजीव मानेंगे ?…। यहां वायुकाय तथा स्थावर शरीर इन शब्दों का भाव 'मञ्चा क्रोशन्ति' के अनुसार वायु तथा वनस्पति (स्थावर=जड़) में रहनेवाले अत्यन्त सूक्ष्म जीव से है। जो अनुशयी रूप से उनमें रहते हैं, या वायु में विचरण करते हैं।"

समीक्षा—"हाथ कंकण को आरसी क्या" इस उक्ति के अनुसार पुरी जी क्या सिद्ध करना चाहते हैं वह तो स्वतः ही सिद्ध है। देखिए 'सुख दुःख प्राप्त नहीं होता' इस वाक्य पर प्रश्न होता है किसको ? इसका उत्तर है 'जीवों को' पुनः जिज्ञासा होती है कि 'कौन से जीवों को' ? उसके उत्तर के लिये पढा है "स्थावर शरीर वाले" अर्थात् जिनका स्थावर शरीर है। इससे स्थावर शरीर क्या सजीव सिद्ध नहीं हो सकते। यहां पर 'स्थावर शरीरवाले' यह जीवों का विशेषण है। और शरीर का विशेषण है 'स्थावर' पद। स्थावर शब्द वाचक वृक्षादि का, ऐसी अवस्था में वृक्षादि में जीव सिद्ध होता है वा नहीं ? आप वा पाठकगण ईमानदारी से बतावें। शेष रही बात 'वायुकाय' की, यह शब्द बहुव्रीहि समासान्त है। काय शब्द शरीर वाचक है, अतः वायुप्रधान (वायवीय) शरीरवाले जीवों को वायुकाय नाम से कहा जाता है। जब आप तैजस शरीर मानते हैं, तो वायवीय शरीर मानने में क्या आपत्ति है।

आप जैसे शास्त्री विद्वान् जन को 'वायुकाय शरीर' जैसे अशुद्ध निरर्थक शब्द का प्रयोग करना शोभा नहीं देता। तथा 'स्थावर शरीर' वा 'वायुकाय' पदों में आपका अभिधावृत्ति को त्यागकर लक्षणावृत्ति से अन्य अर्थ की कल्पना करना अयुक्त है क्योंकि शब्द का मुख्य अर्थ त्यागकर गौण अर्थ वहां ग्रहण किया जाता है जहां वक्ता का अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। श्रोतागण वा पाठकगण स्वेच्छा से जहां चाहें अभिधावृत्ति लगालें जहां चाहें लक्षणावृत्ति समझ लें। ऐसा स्वातन्त्र्य नहीं है। यथा "गंगायां गावश्चरन्ति" इस वाक्य में गंगा पद का अर्थ गंगा का समीपस्थ प्रदेश खादर अर्थ इसलिये ग्रहण किया जाता है कि गंगा के मुख्य अर्थ 'प्रवाह' में घास भक्षण क्रिया सम्भव नहीं है। किन्तु 'गंगायां नक्राः संचरन्ति' में भी कोई पूर्ववाक्यवत् मुख्य अर्थ को त्यागकर गौण अर्थ की कल्पना करने लग जावे तो वह उसकी कल्पना अयुक्त है। इसी प्रकार आपकी भी यहां अभिधावृत्ति को त्यागकर गौणीवृत्ति की कल्पना वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध होने के कारण अमान्य है। क्योंकि 'मञ्चा क्रोशन्ति' वाक्य में मञ्च का मुख्य अर्थ मचान त्यागकर उस पर बैठे हुए मनुष्य इसलिए लिया जाता है कि मचान जड़ होने से बोल नहीं सकते (मचान में उच्चारण क्रिया असंभव है) किन्तु 'स्थावर शरीरवाले जीव' यहां पर स्थावर शरीर से स्थावरस्थ किसी अन्य शरीर का ग्रहण करना वक्ता के अर्थ का अनर्थ करना है। तथा आपका वनस्पति शब्द के बाद कोष्ठ में स्थावर शब्द का देना तो ठीक है परन्तु स्थावर का जड़ अर्थ आपका अशुद्ध है क्योंकि जड़ शब्द से तो पृथिव्यादि का भी ग्रहण होता है। स्थावरत्व जाति तथा पृथ्वी आदि जातियां भिन्न-भिन्न हैं, दोनों प्रकार की जातियां जड़त्व जाति से व्याप्त हैं। आपका स्थावर को और जड़ को पर्याय समझना भ्रान्ति है।

आपके वे वनस्पति और वायु में रहनेवाले जीव शरोरी हैं वा अशरीरी ? यदि वे शरीर रहित हैं तो वायु में कैसे विचर सकते हैं। वनस्पति को जीव का शरीर आप मानते नहीं अन्य कोई शरीर भी उनका सिद्ध नहीं होता तो फिर उनका बिना शरीर निवास का क्या अर्थ (प्रयोजन) है। जीव का 'अत्यन्त सूक्ष्म' विशेषण देना भी व्यर्थ है क्योंकि जीव तो सभी समान हैं उनके शरीरों में ही सूक्ष्मता, स्थूलता होती है। 'अत्यन्त सूक्ष्म शरीरवाले' यह विशेषण तो जीव का हो सकता है। यदि वे जीव वहां शरीर सहित हैं तो उनको सुख दुःख प्राप्त होता है वा नहीं। नहीं प्राप्त होता है तो किस कारण से ? होता है तो किस प्रकार से ? आपके तथाकथित अनुशयी जीव का क्या लक्षण है ? उसको सुख दुःख आदि की प्राप्ति है वा नहीं ?

पृष्ठ ६८ पंक्ति ७ पर लिखा है—

"नवां अनुवाक प्रमाण रूप में ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन चरित्र के लेखक कई बातें संदिग्ध भी कह जाते हैं।"

समीक्षा—आप्तवक्तृक (जिसका वक्ता आप्त पुरुष है) इतिहास को शब्द प्रमाण माना गया है। इससे भिन्न को अप्रमाण। आप वक्ता के कथन को कारणों से असत्य सिद्ध करें, तब वह अप्रमाण होगा, यदि आप उसके कथन को असत्य सिद्ध नहीं कर सकते तो आपका वचन अप्रमाण रहेगा। आपका यह लेख तो ऐसा है—"क्योंकि बहुत सी पुस्तकों में बहुत से आदमी मिथ्या बात भी लिख देते हैं इसलिये सभी पुस्तकें अप्रमाण हैं।" इस दृष्टि से आपकी पुस्तक भी अप्रमाण हो जावेगी तथा इतिहास प्रमाण की सत्ता ही समाप्त हो जायेगी।

महर्षि दयानन्द जी के जीवन चरित्र में से ही मैं आपके सम्मुख निम्नलिखित लेख प्रस्तुत करता हूँ—फर्रुखाबाद में पौराणिक मण्डल ने पच्चीस प्रश्न लिखकर बाबू बलदेवप्रसाद बी०ए० हैडमास्टर गवर्नमैंट हाई स्कूल के नाम से श्री स्वामी जी की सेवा में भेजे थे। उनमें इक्कीसवां प्रश्न और उसका उत्तर निम्नलिखित हैं—

प्रश्न २१.–जीवात्मा संख्यात हैं वा असंख्यात, कर्म से मनुष्य पशु, वृक्षादि योनियों में उत्पन्न हो सकता है वा नहीं ?

उत्तर—ईश्वर के ज्ञान में जीव संख्यात, मनुष्य के ज्ञान में असंख्यात पापादिक कर्म करने से मनुष्य वृक्षादिक योनियों में पैदा होता है। ये प्रश्नोत्तर फर्रुखाबाद का इतिहास नामक पुस्तक से ज्यों के त्यों उद्धृत किये गये हैं। ये प्रश्नोत्तर भारत सुदशा प्रवर्तक नामक समाचारपत्र में भी छपे थे जो आर्यसमाज फर्रुखाबाद की तरफ से प्रकाशित होता था। फर्रुखाबाद के इतिहास में भी उक्त पत्र से ही लिये गये हैं। (महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र भाग दो) संग्रहकर्ता—घासीराम जी एम०ए०,एल०एल०बी० मेरठ। तृतीयावृत्ति पृष्ठ २०६-२०७)

आप पूर्वोक्त कथन को प्रमाण द्वारा अयुक्त सिद्ध करें। जब तक इसको अयुक्त सिद्ध नहीं कर सकते तब तक इसको अप्रमाण कैसे माना जा सकता है।

पृष्ठ ८६ पंक्ति १० से १८ तक—

श्री स्वामी दयानन्द जी के वेदभाष्य के आधार पर वृक्षों को चेतन सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में पहला प्रमाण पुरी जी ने—इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि (यजु० ३५, १५ पर) स्वामी जी के भाष्य की

निम्न पंक्तियों को अपने पक्ष में लगाया है—

(जीवेभ्यः) "प्राणधारकेभ्यः स्थावरशरीरेभ्यश्च" वस्तुतः यहाँ भी "स्थावरशरीररेभ्यः" का अर्थ स्थावरस्थशरीरेभ्यः का अर्थ है "स्थावरस्य शरीरेभ्यः" स्थावरों, जड़ वस्तुओं वायु जल आदि के प्राप्त अत्यन्त सूक्ष्म अनुशायी जीव।

समीक्षा—पुरी जी के शब्द निम्नलिखित हैं—"अब इस अध्याय में यह दर्शाते हैं कि उन्होंने (स्वामी दयानन्द जी ने) अपने वेद भाष्य में भी वृक्षों को जीवधारी होना माना है। उन प्रमाणों को सुनिये—"इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि" (यजु० अध्याय ३५ मन्त्र १५) (जीवेभ्यः) प्राणधारकेभ्यः स्थावरस्य शरीरेभ्यश्च।

उपर्युक्त लेख से पुरी जी जीवधारी होना स्वामी जी के मतानुसार होना सिद्ध करते हैं जो युक्त है परन्तु आपका प्रयास उनके उक्त लेख को अयुक्त सिद्ध करने का है जो निष्फल ही रहेगा। तद्यथा—महर्षि जी जीव को प्राणी अप्राणी दो प्रकार का मानते हैं। मनुष्य पश्वादि में जो जीव है वह चेतन (ज्ञानादि गुण सहित) है। स्थावर वृक्षादि में जो जीव है वह अप्राणी अर्थात् जड़ (ज्ञानादि गुण रहित) है। इसलिये (जीवेभ्यः) इस पद की व्याख्या की है—प्राणधारकेभ्यः=प्राण धारण करनेवाले मनुष्यादि। स्थावरशरीरेभ्यश्च= और स्थावर=वृक्षादि शरीरवाले अप्राणी (जड़) जीव। दोनों पद जीवेभ्य के विशेषण हैं। यहां प्राण से अभिप्राय अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों से सिद्ध है। स्थावरशरीरेभ्यश्च में स्थावर शरीर पद बहुव्रीहि समास का है जिसका अर्थ होगा—स्थावराः वृक्षादयः शरीराणि येषां ते स्थावरशरीराः तेभ्यः। स्थावर वृक्षादि हैं शरीर जिनके वे जीव स्थावर शरीर कहलाते हैं उससे चतुर्थी विभक्ति के बहुवचन में रूप है स्थावर शरीरेभ्यः चकार समुच्चयार्थक है। आपने स्थावर का अर्थ जल वायु आदि जड़ पदार्थ किया है जो सर्वथा अशुद्ध अप्रामाणिक और कपोलकल्पित होने से अग्राह्य है। किसी प्रामाणिक विद्वान् स्थावर आदि का अर्थ जल वायु आदि नहीं किया है।

आपकी यहां भाषा भी बड़ी अटपटी उलझन भरी है। जैसे—"वायु जल आदि के प्राप्त अत्यन्त सूक्ष्म अनुशयी जीव" यहां वायु जल आदि में रहनेवाले न लिखकर जल वायु आदि के प्राप्त लिखने में क्या तुक है यदि आपको इससे भिन्न अर्थ अभिप्रेत हो तो वह बतायें।

जीव तो सभी समान रूप से सूक्ष्म हैं फिर उनके लिये अत्यन्त विशेषण

देना निरर्थक शब्दाडम्बर मात्र है। अत्यन्त सूक्ष्म शरीरवाले तो विशेषण बन सकता है।

पृष्ठ ८६ पंक्ति १६ पर आप लिखते हैं—

'स्थावरशरीरेभ्यः' इस शब्द को पृथक् देने का भाव ही यही है कि अन्य प्राणधारी जीव तो स्पष्ट प्रत्यक्ष गोचर हैं परन्तु स्थावरादि में प्राप्त जीव जो नहीं भी दिखाई देते। अनुशायी रूप से जीव इनमें भी रहता है। इससे स्वयं वृक्षों के चेतन होने की शक्ति कैसे हो सकती है।"

समीक्षा—'स्थावरशरीरेभ्यः' का स्पष्टीकरण पहले हो चुका है। आपका प्राणधारी जीवों को स्पष्ट प्रत्यक्ष लिखना भ्रान्तिजनक है क्योंकि जीव तो रूपादि गुण रहित होने से चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय ही नहीं है। शास्त्रों में बाह्येन्द्रियजन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। प्रत्यक्ष और गोचर शब्द ही पर्यायवाची हैं। इनमें से एक का लिखना ही ठीक था दोनों का लिखना निष्प्रयोजन है। इसी प्रकार इनका स्पष्ट विशेषण देना भी निष्फल सा ही है। आपका यह अत्यन्त सूक्ष्म अनुशायी जीव जड़ (ज्ञानादि गुण रहित) है वा चेतन (ज्ञानादि गुण सहित)।

यदि ज्ञानादि गुण रहित है तो आपके सिद्धान्त की हानि रूप दोष आता है। यदि ज्ञानादि गुण सहित है तो प्रत्यक्ष दिखाइये जैसे आप अन्य प्राणधारियों को दिखाने का दावा करते हैं उसी प्रकार। यदि जीव होने मात्र से ज्ञानादि का अनुमान करते हैं तो वृक्षादि स्थावर शरीरवाले जीवों के ज्ञानादि गुण सहित मानने में आपको क्या आपत्ति है। जब स्थावर शब्द से आप सभी पृथिव्यादि परमाणु पर्यन्त जड पदार्थों का ग्रहण करते हैं तब 'आदि' शब्द का प्रयोग निरर्थक है। यदि सार्थक समझते हैं तो 'आदि' शब्द से किसका ग्रहण करेंगे।

क्या आपके तथाकथित 'अत्यन्त सूक्ष्म अनुशायी' जीव मनुष्यादि प्राणियों में नहीं रहते, यदि नहीं रहते तो सन्तानार्थ माता-पिता के संयुक्त होने पर गर्भ कैसे सजीव होगा ? यदि रहते हैं तो किस प्रकार मनुष्य पश्वादि शरीर में एक अधिष्ठाता (स्वामी) जीव के रहते अन्य अनुशयी जीव भी आधाराधेय रूप संयोग सम्बन्ध से रह सकते हैं तो वृक्षादि स्थावरों में भी एक अधिष्ठाता (स्वामी) विद्यमान जीव के मानने में आपको क्यों आपत्ति है ? अब आपने जो "स्थावरशरीरेभ्यः" का 'स्थावरस्थशरीरेभ्यः" ऐसा अर्थ किया है इसका व्याकरण की दृष्टि से क्या अर्थ निकलता है इस पर विचार करना चाहिए।

स्थावराः वृक्षादयः तेषु तिष्ठन्तीति स्थावरस्थाः। सुपि स्थः इस सूत्र से स्थावर सुबन्त उपपद पूर्वक स्था धातु से क प्रत्यय आकार लोप होने पर स्थावरस्थ शब्द सिद्ध हुआ तत्पश्चात् बहुव्रीहि समास करने पर स्थावरस्थं शरीरं येषां ते स्थावरस्थशरीराः तेभ्यः। इस अर्थ के अनुसार वृक्षों पर निवास करनेवाले बन्दर, पक्षी, कीट, पतंगादि भी "स्थावरस्थशरीरेभ्यः" पद से अभिहित होंगे। इसलिए आपका 'स्थ' शब्द का अध्याहार करना अप्रार्थक तथा वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। तथा आपका यह लिखना भी अयुक्त है कि प्राणधारी जीव प्रत्यक्ष का विषय है। जब जीव निराकार है तथा उसमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध गुणों में से एक भी गुण नहीं, तब उसका इन्द्रियों से ज्ञान (प्रत्यक्ष) कैसे हो सकता है। वह तो प्राणापान आदि कर्मों तथा ज्ञानादि गुणों से अनुमेय है। यद्यपि समाधि दशा में योगी जन अपने आत्मा और परमात्मा का क्रमशः प्रत्यक्ष करते हैं परन्तु यह विशेष अवस्था है सामान्य नहीं। यह आत्मप्रत्यक्ष अलौकिक है, इन्द्रियजन्य ज्ञान गम्य नहीं है। "जीव जो नहीं भी दिखाई देते" आपके इस लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि आप किन्हीं जीव विशेषों को आंख का भी विषय मानते हैं। परन्तु ऐसा मानना अयुक्त है। "परन्तु स्थावरादि में प्राप्त जीव जो नहीं भी दिखाई देते अनुशायी रूप में जीव इनमें भी रहता है" आपके इस लेख से यह अर्थ निकलता है कि जीव में भी जीव रहता है वा रह सकता है परन्तु जीव में जीव नहीं रह सकता क्योंकि सब जीवों की सूक्ष्मता समान है। उनका संयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता। स्थूल वस्तु में उससे सूक्ष्म वस्तु व्यापक रूप से रह सकती है जैसे लोहे में अग्नि।

पृष्ठ ८६ पंक्ति २४ पर आप लिखते हैं—

इसी अध्याय के दूसरे अनुवाक में भी स्वामी जी के भाष्य की निम्न पंक्तियों का भाव भी पुरी जी ने सही नहीं समझा—

"नैव प्राणैर्विना कश्चित्प्राणी वृक्षादयश्च शरीरं धारयितुं शक्नुवन्ति।'

समीक्षा—पुरी का लेख निम्न प्रकार है (पृष्ठ १८२, १८३) भावार्थ—हिन्दी—"कोई प्राणी या वृक्षादि प्राणों के विना अपने शरीरों को धारण नहीं कर सकते। यहां श्री स्वामी जी (महर्षि जी) ने वृक्षों को प्राणी के साथ बताते हुए 'शरीरधारी' भी मान लिया है अतः कोई सन्देह नहीं हो सकता कि स्वामी जी वृक्ष को जीवधारी मानते थे वा नहीं।"

अब इस लेख से संस्कृत पढे लिखे विद्वान् विचार सकते हैं कि महर्षि जो

के भाव को पुरी जी ने गलत समझा या आपने। महर्षि दयानन्द जी के संस्कृत भावार्थ की व्याख्या जो आर्यबन्धु संस्कृत नहीं समझते उनके लिए की जाती है—

महर्षि जी प्राणी और अप्राणी भेद से दो प्रकार का जगत् मानते हैं। इसका स्पष्ट व्याख्यान प्रथम दिन के सम्वाद में सूर्य आत्मा जगतस्थुषः की व्याख्या में हो चुका है। प्राणी जगत् के दो भेद हैं एक चेतन दूसरा जंगम। अप्राणी जगत् भी दो प्रकार का है। एक स्थावर वृक्षादि दूसरा पृथिव्यादि। मनुष्य आदि शब्द सामान्य रूप से कहीं जीव के वाचक कहीं आकृति के वाचक और कहीं जातिवाचक होते हैं यहां पर जीव वाचक अर्थ ग्रहण करना चाहिये क्योंकि शरीर शब्द का पाठ भी कर दिया है। पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—प्राणों (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान) के विना कोई भी प्राणी अर्थात् मनुष्य पशु पक्षी आदि का जीवात्मा शरीर को अर्थात् मनुष्य पशु पक्षी आदि नामक अपने २ (देह) को धारण नहीं कर सकता; अर्थात् प्राणों के द्वारा ही मनुष्यादि (जीवात्मा) अपने शरीर का धारण अर्थात् प्राप्ति और उसकी रक्षा कर सकते हैं अन्यथा नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि प्राणादि से ही शरीर की प्राप्ति और उसकी रक्षा होती है।

"नैव प्राणैर्विना कश्चित्प्राणी शरीरं धारयितुं शक्नोति" इस वाक्य के समान "नैव प्राणैर्विना कश्चित्प्राणी वृक्षादयश्च शरीरं धारयितुं शक्नुवन्ति" इस दूसरे वाक्य का भी अर्थ पूर्वोक्त वाक्य के अनुसार ही समझना चाहिए। प्राणों के बिना वृक्षादि का जीवात्मा भी शरीर धारण नहीं कर सकता। यहां पर वृक्ष शब्द जीवात्मा परक समझना चाहिए।

पूर्वोक्त व्याख्या में हेतु— क्योंकि जीवात्मा ही शरीर धारण किया करता है।

पृष्ठ ८७ पंक्ति १२ पर आप लिखते हैं—

इस पंक्ति में भी प्राणों का ही महत्त्व वर्णन हो रहा है।

समीक्षा=आपका लिखना ठीक है परन्तु वह महत्त्व वर्णन किस कारण से है? उस कारण का उल्लेख पुरी जी ने ना अपने शब्दों में कर दिया परन्तु आपने नहीं किया। इससे सिद्ध है कि पुरी जी तो महर्षि जी के भाव को कुछ समझते हैं और आपने शायद उसको समझते हुए भी उल्लेख करना उचित नहीं समझा। क्योंकि इससे आपके मत का खण्डन होता था। ऐसा करना विद्वानों को शोभा नहीं देता। इससे अज्ञ जन भ्रान्त हो जाते हैं।

पृष्ठ ८७ पंक्ति १३ पर आप लिखते हैं—

इसी अध्याय के तीसरे अनुवाक में तो स्वामी जी महाराज ने बिलकुल "वृक्षादिस्थस्य शब्द देकर प्रकट कर दिया है कि जीव वृक्षादि में स्थित अत्यन्त सूक्ष्म जीवों में स्थित रहता है, स्वयं वृक्षों में नहीं।"

समीक्षा—यह आपका लेख सर्वथा भ्रान्त है, क्या जीव में भी जीव कभी रह सकता है? परमात्मा तो सूक्ष्मतम होने के कारण जीव के अन्दर व्यापक रूप से रहता है। किन्तु एक जीव दूसरे जीव के अन्दर नहीं रह सकता क्योंकि दोनों का स्वरूप समान है।

पृष्ठ ८७ (पूर्वोक्त लेख से आगे) पंक्ति १७ पर आप लिखते हैं—

अन्यथा 'वृक्षादिस्थ' के समान 'मनुष्यस्थ' तथा 'पशुस्थ' शब्द का व्यवहार स्वामी जी ने क्यों नहीं किया?

समीक्षा—स्वामी जी ने तो 'स्थ' शब्द का प्रयोग मनुष्य तथा पशु के साथ भी किया है यदि कोई न समझे तो इसमें स्वामी जी महाराज का क्या दोष है। सो इस प्रकार है देखिए—ऋ० मं० १ सू० १ मं० २४ के पदार्थ में—(मे) मम जीवस्य (अस्य) मनुष्यपशुवृक्षादिस्थस्य।"

यहां पर मनुष्यपशुवृक्षादिस्थस्य यह एक समस्त पद है इसका लौकिक विग्रह इस प्रकार होगा—

मनुष्याश्च पशवश्च वृक्षादयश्च इति मनुष्यपशुवृक्षादयः (द्वन्द्व समास) तेषु तिष्ठति इस अर्थ में सुबन्त उपपद होने पर सुपि स्थ (३,२,४) इस सूत्र से 'स्था' धातु से क प्रत्यय, आकार लोप होने पर 'मनुष्य-पशु-वृक्षादिस्थ' यह एक पद बन गया है उससे षष्ठी एक वचन में पूर्वोक्त रूप है। व्याकरण शास्त्र का यह नियम है। "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते" अर्थात् द्वन्द्व समासान्त पद के बाद जिस शब्द का श्रवण (प्रयोग) होता है उसका प्रत्येक के साथ सम्बन्ध जानना चाहिये जैसे 'राम-लक्ष्मण-भरतादयः दुग्धम् पिबन्ति' यहां दुग्धपान क्रिया का सबके साथ सम्बन्ध है इसी प्रकार पूर्वोक्त वाक्य में 'स्था' क्रिया का मनुष्य पशु वृक्षादि के साथ सम्बन्ध है केवल अन्तिम पद वृक्षादि के साथ ही उसका सम्बन्ध समझना भूल है।

पूर्वोक्त (मे अस्य) इन दोनों पदों में 'मे' पद विशेष्य है और 'अस्य' पद उसका विशेषण है। अब उनका अर्थ इस प्रकार होगा—"मनुष्यों पशुओं और वृक्षादि में स्थित मुझ जीवात्मा का।" इससे और अधिक क्या स्पष्ट लेख होगा कि मनुष्यादि के समान वृक्षादि में भी जीवात्मा निवास करता है।

अनुशयी जीव तो अपने सूक्ष्म शरीर के साथ तथा अन्य क्षुद्र प्राणी (कृमि) भी वृक्षादि के समान मनुष्यादि में भी सर्वत्र आधाराधेय रूप सयोग सम्बन्ध से रहते ही हैं उनका यहां कोई प्रकरण नहीं।

पृष्ठ ८७ पंक्ति १८ पर—

'वृक्ष के साथ "स्थ" शब्द का लिखना ही इस बात का द्योतक है कि यहां उन जीवों का वर्णन है जो वृक्षादि में अनुशयी जीवों के रूप में रहते हैं।'

समीक्षा—इससे पूर्व सिद्ध किया जा चुका है कि 'स्थ' का सम्बन्ध केवल 'वृक्षादि' के साथ नहीं है सबके साथ है। इसलिये उसके आधार पर की गई कल्पना भी अयुक्त है क्योंकि अप्रमाण से हुआ ज्ञान भी अप्रामाणिक ही होता है।

पृष्ठ ८७ पंक्ति २१-२२ पर लिखा है—

'परन्तु पशु में मनुष्यों के समान जिनके शरीर स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होते।'

समीक्षा—इस वाक्य का स्वतन्त्र रूप से वा पूर्वापर के साथ मिलाकर भी कोई अर्थ मेरी समझ में नहीं आया। वक्ता इस वाक्य से क्या कहना चाहता है यह स्पष्ट रूप से तथा अस्पष्ट रूप से भी इस वाक्य के पदों से कुछ बोध नहीं होता।

पृष्ठ ८७ पंक्ति २३ से २६ तथा पृष्ठ ८८ पंक्ति १-२ पर लिखा है—

'इसके आगे (पृष्ठ १८५ से १८७ तक) स्वामी जी (महर्षि दयानन्द जी) द्वारा प्रयुक्त प्राणी तथा अप्राणी शब्दों को लेकर जो कुछ इस ग्रन्थ में लिखा गया है वह स्वामी जी महाराज के भाव तथा शैली को न समझने का द्योतक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं स्वामी जी महाराज इन दोनों शब्दों का प्रयोग चेतन तथा जड़ में (जड के लिए) करते रहे हैं।'

समीक्षा—इस विषय में पुरी जी तथा आप दोनों ही सज्जन भ्रान्त हैं क्योंकि पुरी जी वृक्षादि को सजीव होने से चेतन (ज्ञानादि गुण सहित) भी मानते हैं और आप वृक्षादि को जड़ (ज्ञानादि गुण रहित) होने से निर्जीव मानते हैं परन्तु महर्षि दयानन्द जी महाराज वृक्षादि स्थावरों को जीव सहित और जड़ मानते हैं।

महर्षि जी ने 'प्राणी शब्द का प्रयोग सर्वत्र मनुष्य पश्वादि चेतन व जंगम जगत् के लिये किया है तथा 'अप्राणी' शब्द का प्रयोग जड़ जगत् के लिए। जड़ जगत् में स्थावर वृक्षादि और पृथिव्यादि दोनों सम्मिलित हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में भी मनुष्यों को प्रतिक्षण कर्म करने के लिए प्रथम जंगम जगत् में से पिपीलिका का दृष्टान्त दिया है क्योंकि तिर्यक् प्राणियों में वही सर्वाधिक अपने कार्यों में व्यापृत रहती है। पुनः अप्राणी जगत् में प्रथम त्रैकालिक जड़ पृथिव्यादि का दृष्टान्त दिया है, पश्चात् वर्तमान काल में जड़ीभूत स्थावर वृक्षादि का दृष्टान्त दिया है।

प्रश्न—जब आप वृक्षादि को जीव सहित स्वीकार करते हैं तब उनमें जीव के इच्छादि गुणों को क्यों नहीं मानते, क्योंकि जिस द्रव्य के जो गुण होते हैं वे उससे पृथक् नहीं होते; यतः गुण गुणी का समवाय सम्बन्ध है।

उत्तर—जीव से उसके गुणों का अत्यन्ताभाव कभी नहीं होता। जीव के इच्छादि गुण साधन विशेष से प्रकट होते हैं। साधनों बिना प्रकट नहीं होते। गर्भ काल में सुषुप्ति दशा तथा बेहोशी आदि में बाह्य साधनों से सम्बन्ध न होने के कारण पूर्वोक्त गुण प्रकट नहीं होते। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष ये जीव के परस्पर विरोधी गुण हैं इनमें सुख क्षण में दुःख का, दुःख क्षण में सुख का, इच्छाकाल में द्वेष का, द्वेष काल में इच्छा का प्राकट्य (दर्शन) नहीं होता है। अपि च इच्छा, द्वेष सुख दुःख गुण, मन और इन्द्रिय के संयोग रूप निमित्त से उत्पन्न होते हैं। जीव के स्वाभाविक धर्म नहीं। ज्ञान और प्रयत्न जीव के स्वाभाविक धर्म हैं। इन दोनों के बिना, निमित्त के होने पर भी सुख दुःख की प्राप्ति जीव नहीं कर सकता। दो विरुद्ध गुण एक ही अधिकरण में एक ही काल में नहीं रहते। निमित्त से पैदा होनेवाले गुण नित्य नहीं होते। "निमित्तापाये नैमित्तिकस्यापि अपायः" निमित्त के हटने पर नैमित्तिक भी हट जाता है। चेतन शब्द से ज्ञान और प्रयत्न दोनों का ग्रहण हो जाता है। स्वाभाविक ज्ञान और प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान और कर्म स्वाभाविक ज्ञान से पृथक् है। इस प्रकार जीवात्मा की स्थावर दशा में भी उसके गुणों का अत्यन्ताभाव नहीं होता केवल निमित्तों के अभाव से नैमित्तिक गुणों का अभाव (अदर्शन) होता है।

प्रश्न—जैसे भूख प्यास के कारण मनुष्यादि प्राणियों के मुखादि अङ्ग म्लान हो जाते हैं और वे दुःख का अनुभव करते हैं, अच्छा खान पान मिलने पर पुष्ट व हर्षित होते हैं उसी प्रकार वृक्षादि स्थावर भी पानी खाद आदि की प्राप्ति पर पुष्ट व हरे-भरे हो जाते हैं और उनके अभाव में क्षीण व मुरझा जाते हैं। रात्रि के अन्धकार में बहुत से पत्र पुष्पादि संकुचित हो जाते हैं और सूर्य प्रकाश में विकसित हो जाते हैं। स्थावरों की इन क्रियाओं से उनमें भी

सुख दुःख इच्छा द्वेष गुणों का अनुमान होता है।

उत्तर—मुरझाना, कुम्हलाना, हरा-भरा होना, कृश होना, पुष्ट होना, ये शरीर के धर्म हैं आत्मा के नहीं। सुख दुःखादि का सम्बन्ध आत्मा से है शरीर से नहीं। मनुष्य कृश होने पर भी प्रसन्न रह सकता है तथा शरीर से पुष्ट होने पर भी दुःखी हो सकता है। मनुष्य परोपकारार्थ भूखा, प्यासा रह कर आत्म-सन्तोष अनुभव करता है। अनीति पूर्वक ऐश्वर्य भोगता हुआ भी आत्मग्लानि अनुभव कर सकता है। जिस प्रकार प्राणियों के अन्दर बहुत से व्यवहार राग द्वेष जनित न होकर अभ्यासवशात् होते रहते हैं उसी प्रकार वृक्षादि स्थावरों के शरीर में भी सब व्यवहार अदृष्ट जनित प्रयत्न विशेष से होते रहते हैं ऐसा समझना चाहिए। आकर्षण विकर्षण भी अप्राणियों में विद्युत् विशेष से होता है इच्छा द्वेष जनित नहीं, क्योंकि इच्छा द्वेष के लिए ज्ञानपूर्वकता आवश्यक है, ज्ञान के साधन (निमित्त) स्थावरों में नहीं हैं।

प्रश्न—राजर्षि मनु ने तो स्थावर वृक्षादि को सुख दुःख सहित माना है। जब सुख दुःख हैं तो ज्ञान इच्छा द्वेष भी होने चाहिए। इससे वृक्षादि को चेतन (ज्ञानादि गुण सहित) मानना चाहिए। जड़ (ज्ञानादि गुण रहित) नहीं।

उत्तर—मनु जी महाराज ने वृक्षों (स्थावरों) को जड़ (ज्ञानादि गुण रहित) ही बताया है।

प्रश्न—मनुस्मृति का श्लोक इस प्रकार से है—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥
(अ० १ श्लो० ४९)

अर्थ—ये वृक्षादि स्थावर अपने कर्मजन्य बहुरूपी (नाना प्रकार के) तमोगुण से आच्छादित हैं तथा इनके भीतर (आत्मा) में संज्ञा=चेतन=ज्ञान होता है और ये सब सुख दुःख से सम्बन्धित हैं। यहां पर 'सुखदुःखसमन्विता' यह स्थावर वृक्षादि का विशेषण है इससे सिद्ध है कि मनु जी स्थावरों को चेतन मानते हैं जड़ नहीं।

उत्तर—मनु जी ने अन्यत्र कहा है कि 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।' अर्थात् जो मनुष्य शुद्ध तर्क द्वारा अर्थों का अनुसन्धान करता है वही सचाई (यथार्थ) को प्राप्त करता है। बिना तर्क के यथार्थ (सत्य) का बोध नहीं होता।

आपने जो मनुस्मृति के श्लोक का अभिप्राय समझा है वह तर्क की कसौटी

पर खरा नहीं उतरता, देखिये—यहां वृक्षादि का एक विशेषण है 'अन्तःसंज्ञा' यह पद बहुव्रीहि समास का है जिसका अर्थ होगा—अन्तर्भूत (अन्तर्लीन) है संज्ञा (चेतना) जिसकी, अर्थात् बाह्यचेतना रहित। जो बाह्यचेतना (होश) रहित है उसको बाह्य सुख दुःख का अनुभव कैसे होगा? अर्थात् नहीं हो सकता। इसलिये 'अन्तःसंज्ञा' विशेषण का और बाह्य रूप से 'सुख-दुःख समन्विताः' इस का परस्पर विरोध है, उसके परिहारार्थ सातवें दिन के सम्वाद में जैसा इस श्लोक का अन्वय किया है वही समुचित समझना चाहिए। वहां सिद्ध किया गया है कि बाह्य सुख दुःख का सम्बन्ध बाह्य संज्ञा=चेतना=ज्ञान से है वह संज्ञा उनकी आत्मलीन होती है (रहती है) इसलिये बाह्यज्ञान के साधनों के न होने से वृक्षादि को बाह्यसुख दुःख का भान (प्रतीति) नहीं हो सकता। तथा च—वृक्षादि को इच्छा द्वेष भी नहीं हो सकते, क्योंकि मनु जी ने ही कहा है कि ये वृक्षादि अन्धतमसाच्छन्न होते हैं अर्थात् गहरे अज्ञानान्धकार से ढके हुए रहते हैं। अज्ञान ज्ञान का विरोधी है अतः ज्ञान के अभाव में इच्छा द्वेष भी नहीं हो सकते।

स्थावर जीवों के अन्तःकरण की स्वालक्षण्यवृत्ति के कुण्ठित होने से उनके लिये उपयोगी उपकरणों का निर्माण भी इनके शरीर के अन्दर नहीं किया। इसलिये वृक्षादि स्थावर चेतन नहीं हैं; जड हैं।

पृष्ठ ८९ पंक्ति २४ तथा पृष्ठ ९० पंक्ति १-५ पर लिखते हैं—

'वस्तुतः उद्भिज योनि का अर्थ—लता गुल्म वनस्पति आदि नहीं है। अपितु उद्भिज नाम सारी ही अमैथुनी चर सृष्टि का है। क्योंकि प्रारम्भ में जितने भी जीव उत्पन्न होते हैं वे पृथिवी से उद्भिज रूप में ही पैदा होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उद्भिज योनि नहीं होती।'

समीक्षा—यहां (उक्त लेख मे) कई बार उद्भिज शब्द आया है, यह 'उद्भिज' नहीं है अपितु 'उद्भिज्ज' है; दो जकारवाला शुद्ध रूप है। क्योंकि उत् उपसर्ग पूर्वक भिद् धातु से क्विप् करने पर उद्भिद् शब्द बना, उसके बाद उद्भिदः जायते इति उद्भिज्जः।

आपने अपनी पूर्वोक्त प्रतिज्ञा में कोई प्रमाण तो प्रस्तुत किया ही नहीं, प्रतिज्ञा मात्र से कोई बात नहीं होती जब तक उसके लिए हेतु आदि न प्रस्तुत किये जावें।

आपके पूर्वोक्त कथन के खण्डन में प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ—

मनुस्मृति में अ० १ श्लोक ४३ से ४६ तक क्रमशः जरायुज, अण्डज, स्वेदज

और उद्‌भिज्जों का वर्णन किया गया है। यथा ४६ श्लोक में—

उद्‌भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।

अर्थ—बीज द्वारा वा काण्ड द्वारा पैदा होनेवाले सभी स्थावर उत्‌भिज्ज है क्योंकि वे सभी भूमि का उद्‌भेदन करके पैदा होते हैं। इसी प्रकार ऐतरेय उपनिषद् (खं० ५-३) में लिखा है—

"अण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्‌भिज्जानि च।"

सांख्यदर्शन अ० ५ सूत्र १६१ निम्न प्रकार है—

'ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्‌भिज्जाः सांकल्पिकसांसिद्धिकाश्चेति न नियमः'। (५-१६१)

छान्दोग्य उपनिषद् ६-३-१ में लिखा है—

"तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्‌भिज्जम्।"

इसी प्रकार वेदान्तदर्शन ३-१-२० का शांकरभाष्य निम्न प्रकार है—

"अपि च चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्‌भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्‌भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनात्।"

जिस प्रकार संवत्सर के विषय में वेद में—'द्वादशारं न हि तज्जराय' 'षडरे आहुर्रर्पितम्' 'पंचारे चक्रे परिवर्तमाने' 'त्रिनाभि चक्रम्'। ऐसा भिन्न-भिन्न प्रकार लेख मिलता है। अर्थात् संवत्सर चक्र को कहीं पर बारह अरों वाला, कहीं पर पांच अरों वाला, कहीं पर छः अरों वाला और कहीं तीन नाभिवाला चक्र निर्देश किया है।

ऐसी अवस्था में विद्वान् जन इनका इस प्रकार सामंजस्य बैठाते हैं—

सप्ताह में बारह मास होते हैं इसलिये बारह अरों वाला कहा है। तथा दो-दो मास को एक-एक ऋतु मान कर छः अरों वाला प्रतिपादन किया है। छः ऋतुओं में हेमन्त और शिशिर का समाहार करके (एक मान कर) पांच अरों वाला, तथा वसन्त व ग्रीष्म का और वर्षा व शरद् का समाहार करने से तीन नाभि वाला संवत्सर कहा गया है।

इसी प्रकार शास्त्रों में शरीर के भी कहीं छः भेद, कहीं चार, कहीं तीन, कहीं दो भेद कहे हैं। इनमें भी संवत्सर के समान विरोध का परिहार (समाधान) कर लेना चाहिये।

आपके विचारानुसार तो आदि सृष्टि के समय जो अमैथुनी प्राणी पैदा होते

हैं वही उद्‌भिज्ज हैं। इस प्रकार अयोनिज और उद्‌भिज्ज शब्द पर्यायवाची हुए, परन्तु ऐसा आपका सिद्धान्त अयुक्त है। आदि सृष्टि के मनुष्यादि प्राणी भूमि का उद्‌भेदन (फोड़ना) करके पैदा नहीं होते अपितु ईश्वर की स्वाभाविक क्रिया शक्ति द्वारा धर्माधर्म प्रेरित अणुसंघात से बनते हैं।

प्रशस्तभाष्य में अयोनिज शरीर के विषय में लिखा है—

"तत्रानपेक्ष्यशुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते; क्षुद्रजन्तूनामपि यातना शरीराणि अधर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते।"

जब आप पृथिवी का उद्‌भेदन करके पैदा होने से मनुष्यादि के शरीरों को 'उद्‌भिज्ज' स्वीकार करते हैं तब जो अब भी ओषधि वृक्षादि स्थावर भूमि का उद्‌भेदन करके पैदा होते हैं उनको उद्‌भिज्ज क्यों नहीं मानते? इसलिए कि आप उनमें जीव नहीं मानते। जीव को उनमें स्वीकार करें या न करें किन्तु उनके उद्‌भिज्ज पने का अपलाप (खण्डन) कैसे किया जा सकता है, जो कि प्रत्यक्ष से सिद्ध है।

मनुष्य गवादि के अयोनिज शरीर उद्‌भिज्ज नहीं हैं। क्योंकि जिस प्रकार वायवीय परमाणुओं के संघात से महान् वायु, आग्नेय परमाणु संघात से स्थूल अग्नि, आप्य परमाणु संघात से जल, पार्थिव परमाणु संघात से स्थूल पृथिवी बन जाती है उसी प्रकार मनुष्य आदि प्राणिदेहों के योग्य अणुओं को संहत करके ईश्वर तत्तत् योनियों के सांचे बना देता है; उसके बाद मैथुनी सृष्टि होती है।

आपका—'आरम्भ में जितने जीव उत्पन्न होते हैं' ऐसा लिखना भ्रान्त है, क्योंकि जीव पैदा नहीं होते, वे तो नित्य हैं। यदि जीव पैदा होते हैं तो फिर मृत्यु को भी प्राप्त होंगे, क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह मरता भी है। प्राणिदेह उत्पन्न होते और नाश को प्राप्त होते हैं, जीव नहीं। अशुद्ध भाषा का प्रयोग वा भ्रम जनक भाषा का प्रयोग पण्डितों को शोभा नहीं देता।

पृष्ठ ९० पंक्ति ५ से ८ तक आप लिखते हैं—

"हमारे इसी भाव की पुष्टि इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २४२ पर—'तृतीयशब्दा-
वरोधः संशोकजस्य'। वेदान्तदर्शन अ० ३-१-२१ सूत्र पर अंकित शांकर भाष्य
की पंक्तियों से भी होता है। जहां उद्‌भिज शब्द से जिन की माता के गर्भ से
पैदायश न हो उन जूं आदि को भी उद्‌भिज शब्द से ग्रहण किया है।"

समीक्षा—स्वामी शंकराचार्य जी का मत पूर्व (वेदान्त सूत्र ३-१-२०) में
लिखा जा चुका है। ३-१-२१वें सूत्र का शांकरभाष्य निम्न प्रकार से है—

"'आण्डजं जीवजम् उद्भिज्जम्' (छां० ६-३-१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्ज-शब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः। उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात्। स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जंगमोद्भेद इति अन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इति अविरोधः।"

भावार्थ—ऐतरेय में चतुर्विधभूतग्राम बताया है परन्तु छान्दोग्य में त्रिविध ही वर्णन किया गया है, इस प्रकार दोनों में विरोध हुआ? इसका परिहार (समाधान) इस प्रकार समझना चाहिये कि—छान्दोग्य की दृष्टि में उद्भिज्जों में स्वेदजों का भी परिगणन हो जाता है क्योंकि उद्भेद प्रभवत्व (भेदन करके उत्पत्ति) दोनों में समान हो है। ऐतरेय की दृष्टि में स्थावर वृक्षादि पार्थिव आवरण का उद्भेदन (फोड़ना) करके पैदा होते हैं इसलिये 'उद्भिज्ज' श्रेणी में हैं। जंगम जूं आदि जलीय आवरण का उद्भेदन करके पैदा होते हैं इसलिये 'स्वेदज' श्रेणी में परिगणित हैं। इस प्रकार विचार भेद से छान्दोग्य में और ऐतरेय में तीन व चार संख्या मात्र का भेद है उनकी उत्पत्ति प्रकार में दोनों का अविरोध है अर्थात् 'उत्पत्ति' प्रकार में दोनों का ऐकमत्य है।

परीक्षक जन मेरे भाव की और माननीय पण्डित जी के प्रदर्शित भाव की तुलना शांकर भाष्य से करके देख लें कि किसका भाव शांकर भाष्य के अनुकूल है और किसका प्रतिकूल है।

अब मैं—'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' इस मनु के लेख के अनुसार तर्कपूर्वक अर्थ विचार में और विना तर्क अर्थ विचार में क्या भेद है, इसके लिये मनुस्मृति का ही एक श्लोक पाठकों की सेवा में उपस्थित करता हूं।

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥
(मनु० ८-३१८)

इसका कुलूक भट्ट के अनुसार निम्न भावार्थ है—

मनुष्य चोरी आदि पाप करके राजा द्वारा दण्ड पाकर उस पाप से छूटे हुए (छूट कर), सुकर्म करनेवाले मनुष्यों के समान पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से मर कर स्वर्ग को जाते हैं।

समीक्षा—यह ध्यान रखना चाहिये मानवधर्मशास्त्र विशेष रूप से व्यावहारिक (इह लोक में सुख शान्ति प्राप्त करने कराने का) शास्त्र है। जो मनुष्य इस लोक मे अपने कर्मों से दूसरे प्राणियों को दुःख देकर अव्यवस्था

फैलाते हैं वे परलोक में सुख कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

कुलूक भट्ट जी के भावार्थ पर मुझे यह आपत्ति है कि मनु के श्लोक में 'आयान्ति' क्रिया पद है जिसका अर्थ 'आते हैं' होना चाहिये। 'आयान्ति' पद का 'जाते हैं' अर्थ करना अस्वाभाविक और खींचातान का अर्थ है। क्योंकि कुलूकभट्ट जी स्वर्ग को इस लोक की वस्तु नहीं समझते (मानते) इसलिये उन को ऐसी खींचातान करनी पड़ी है। परन्तु मनु जी तो स्वर्ग नरक को इह लोक और परलोक दोनों का ही विषय मानते हैं। महर्षि दयानन्द जी ने भी स्वर्ग का लक्षण करते हुए लिखा है—विशेष सुख और उसके साधनों की प्राप्ति होना 'स्वर्ग' और विशेष दुःख और उसके साधनों की प्राप्ति 'नरक' है। ऋषियों की बातों में विरोध नहीं हुवा करता। मनु महाराज भी 'राजर्षि' थे। 'आयान्ति' पद से मनु जी भी स्वर्ग को इस लोक का विषय स्वीकार करते हैं।

'स्वर्गम् आयान्ति' स्वर्ग को आते हैं। प्रश्न होता है कुतः=कहां से? उत्तर—नरकात्=नरक से; क्योंकि स्वर्ग का विरोधी नरक है अतः नरक से निकल कर स्वर्ग में आजाते हैं। इससे ज्ञात हुआ कि नरक भी इह लोक का ही विषय है।

स्थूलार्थ में (मोटे रूप में) बन्धन का नाम ही नरक है स्वतन्त्रता का नाम हो स्वर्ग है ऐसा समझना चाहिए। इससे पूर्वोक्त श्लोक का यह भाव हुआ जो मनुष्य राजशासन के नियम भंग करता है वह राजदृष्टि में दण्ड्य (दण्ड के योग्य) है, राजशासन उसको अपने नियमानुसार कारागार भेजकर वा उसके ऊपर अन्य कठोर प्रतिबन्ध लगाकर उसकी स्वतन्त्रता (नागरिक अधिकार आदि) का निश्चित अवधि के लिये अपहरण कर लेता है। उस अवधि के समाप्त होने पर राजदण्ड पूर्ण हो जाता है तदनन्तर उस मनुष्य को बन्धन से मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता सम्पूर्ण नागरिक अधिकारों को प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार अन्य सज्जन नियम पालन करनेवाले मनुष्य स्वतन्त्रता रूपी स्वर्ग का उपभोग करते हैं, वह उसको भी उपलब्ध हो जाता है। इस अभिप्राय को जहां 'आ' उपसर्ग बोधित करता है वहां 'सुकृतिनः' का 'सन्तः' पद भी उसका सहायक है क्योंकि 'सन्तः' का अर्थ विद्यमान होता है 'मरकर' नहीं होता।

उपसंहार

इस प्रकार यथामति मैंने माननीय पण्डित ओम्प्रकाश जी शास्त्री विद्याभास्कर द्वारा प्रतिपादित वृक्षों में जीव निषेध सम्बन्धी सभी विप्रतिपत्तियों तथा शास्त्रीय प्रमाणादि का समाधान करने का तथा 'वृक्षादि

स्थावरों में जीव है' यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आशा है इससे स्वाध्यायशील आर्यजनों का कुछ लाभ होगा। अन्त में इस विषय में वैशेषिक दर्शन का सूत्र और उसकी महर्षि दयानन्द जी की व्याख्या लिखकर अपने लेख को समाप्त करता हूँ।

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। (वैशेषिक० अ० ३-२-४)

अर्थ—(प्राण) भीतर से वायु को निकालना, (अपान) बाहिर से वायु को भीतर लेना, (निमेष) आंख को नीचे ढांकना (उन्मेष) आंख को ऊपर उठाना (जीवन) प्राण का धारण करना (मनः) मनन विचार अर्थात् ज्ञान, (गति) यथेष्ट गमन करना (इन्द्रिय) इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उनसे विषयों का ग्रहण करना (अन्तर्विकार) क्षुधा तृषा ज्वर पीडा आदि विकारों का होना, सुख, दुःख, इच्छा=राग, द्वेष=वैर, प्रयत्न=पुरुषार्थ, ये सब आत्मा के लिंग अर्थात् कर्म और गुण हैं। (सत्यार्थ० तृतीय समुल्लास के दर्शन प्रकरण में)। तथा सप्तम समुल्लास में निम्न प्रकार से है—

(इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा (द्वेष) दुःखादि की अनिच्छा वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ बल, (सुख) आनन्द (दुःख) विलाप अप्रसन्नता (ज्ञान) विवेक, पहिचानना ... — (प्राण) प्राणवायु को बाहिर निकालना (अपान) प्राणवायु को बाहिर से भीतर को लेना, (निमेष) आंख को मींचना (उन्मेष) आँख को खोलना (मनः) निश्चय स्मरण और अहंकार करना (गति) चलना (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों को चलाना (अन्तर्विकार भिन्न २ क्षुधा तृषा हर्ष शोकादि युक्त होना ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं। उन्हीं से जीवात्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है। जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं और जब शरीर छोड़ चला जाता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हो और न होने से न हों वे गुण उसी के होते हैं। (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास, ईश्वर जीव सिद्धि प्रकरण में)

व्याख्या—आत्मा निराकार वस्तु है, अर्थात् उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द गुण नहीं होते, अतः वह ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं है। उसका ज्ञान उसके गुणों तथा कर्मों द्वारा अनुमान प्रमाण से होता है, समाधिकाल में मानस प्रत्यक्ष भी होता है ऐसा नैयायिक व वैशेषिक सिद्धान्त है।

न्यायदर्शनकार महामुनि गौतम जी ने आत्मा के छः गुणों (इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान) का ही आत्मलिङ्गत्वेन निर्देश किया है।

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।"

(न्याय० १-१-१०)

आत्मा के लिङ्गभूत कर्मों का तथा आत्मा के शेष गुण धर्म, अधर्म, संस्कार गुणों का न्याय में प्रतिपादन नहीं किया, इससे आत्मा में ये गुण कर्म नहीं हैं वा ये आत्मा के लिङ्ग नहीं है ऐसा न्यायदर्शनकार को अभिप्रेत है ऐसा समझना भूल है क्योंकि न्यायदर्शनकार को प्रमाता (प्रमाणों द्वारा प्रमेयों का ज्ञान करनेवाले) का बोध करना हो अभीष्ट है उसके लिए इच्छादि गुणों की ही निश्चित आवश्यकता है। अधिक की आवश्यकता नहीं अतः उनका निर्देश अनावश्यक समझकर नहीं किया। परन्तु वैशेषिककार ने आत्मा के सभी गुणों और कर्मों का प्रतिपादन किया है, तथा गुणों से कर्मों का कथन प्रथम किया है; क्योंकि आत्मा के गुणों की अपेक्षा कर्मों का ज्ञान शीघ्र हो जाता है तथा सर्गकाल में जीव के कुत्रचित् ज्ञानादि गुणों के अप्रकाशित होने पर भी कर्म सर्वत्र प्रकाशित रहते हैं। कर्मों में भी प्राणापान का निर्देश सर्वप्रथम किया है क्योंकि वे चेतन अचेतन (स्थावर) में जहां २ जीव की विद्यमानता है सर्वत्र सदा रहते हैं। प्राण अपान उपलक्षण हैं प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान नामक पंचप्राणों के।

'जहां २ पञ्चप्राण हैं वहां २ जीव है' यह अन्वयव्याप्ति बनेगी। तथा 'जहां २ जीव का अभाव है वहां २ पञ्चप्राणों का भी अभाव है' यह व्यतिरेक (अभाव) व्याप्ति होगी। निमेष उन्मेष आंख के कर्म हैं। आंख (गोलक) चक्षु इन्द्रिय के अधिकरण हैं, इसलिये निमेषोन्मेष पद चक्षु बोधक हैं। चक्षु इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण (प्रतिनिधिरूप से बोधक) है। पांचों ज्ञानेन्द्रियां रूपादि विज्ञानों के करण (मुख्यकारण=साधन) हैं। करण सकर्तृक होता है अर्थात् करण के साथ कर्ता का होना भी आवश्यक है; इस प्रकार इन से भी जीवात्मा की सिद्धि होती है।

जीवन—की व्याख्या प्रशस्तपादाचार्य ने देह की वृद्धि (बढना) तथा क्षत भग्न संरोहण (टूट फूट की पूर्ति कर लेना) किया है। महर्षि दयानन्द जी ने 'प्राण' अर्थ किया है क्योंकि जीवनी शक्ति का कारण प्राण ही है। प्राण शक्ति के प्रबल होने पर जीवन शक्ति भी प्रबल होती है, प्राण शक्ति के निर्बल (हीनवीर्य) होने पर जीवनशक्ति (देह की पुष्टि आदि) भी क्षीण हो जाती है। यह 'प्राण' पञ्चप्राणों में निर्दिष्ट प्राण नहीं समझना चाहिये किन्तु उनका आधार सूक्ष्म रूप से व्यापक धनञ्जयाख्य देहादि का धारक, जो गर्भ दशा में भी शरीर

को वृद्धि का कारण होता है, वह जानना चाहिये। यह भी साधक होने से कर्त्ता का अनुमान कराता है। 'मनोगति' को प्रशस्त पादाचार्य ने एक समस्त पद माना है। मन के कर्म से भी जीवात्मा का अनुमान होता है, जिस प्रकार बालक गेंद को इच्छानुसार विभिन्न दिशाओं में फेंकता है इसी प्रकार मन को भी विभिन्न विषयों में प्रेरित करनेवाला कोई है यह अनुमान होता है।

'इन्द्रियान्तरविकार'—यह भी प्रशस्तपादाचार्य जी ने एक ही समस्त पद माना है। जिसका अभिप्राय यह है कि एक इन्द्रिय द्वारा उसके विषय का आलोचन (ग्रहण) होने पर दूसरी इन्द्रिय में स्वतः ही विकार आजाता है जैसे आम्र के रूपदर्शन से उसके रस का स्मरण होकर जिह्वा (रसना) में भार (पानी) आजाती है। इससे अनुमान होता है कि उन दोनों इन्द्रियों से कार्य लेनेवाला कोई अन्य ही है। जिससे पूर्वानुभूत वस्तु के रूपदर्शन से उसके रस का स्मरण होकर मुख में पानी आगया है।

किन्तु स्वामी दयानन्द जी महाराज ने मनः-गति-इन्द्रिय-अन्तर्विकार, इस प्रकार इनको अलग-२ लिङ्गत्वेन वर्णन किया है। हमारे लिये दोनों आचार्यों के ही अर्थ ग्राह्य हैं। क्योंकि दोनों ही आप्त वक्ता हैं।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुण हैं, गुण द्रव्याश्रित हैं। द्रव्य ६ हैं, जिनमें पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा और मन.. अचेतन (जड) हैं इसलिये इनके गुण सुखादि नहीं हो सकते। अब नवम द्रव्य आत्मा शेष रहता है इसलिये उसके ही ये गुण हैं क्योंकि वह चेतन है।

'प्रयत्नाश्च' में चकार धर्म, अधर्म और गुणों का आत्मलिंगत्वेन संग्राहक है ऐसा समझना चाहिये। वैशेषिककार ने आत्मगुणों का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है। ज्ञान सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्माधर्म संस्कार। इस क्रम का अभिप्राय यह है—ज्ञान के विना सुख दुःख का विशेषानुभव नहीं हो सकता है। ज्ञान की न्यूनाधिकता से सुख दुःखानुभव भी न्यूनाधिक होगा। सुख से राग, दुःख से द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग का कारण सुख है। द्वेष का हेतु दुःख है। ज्ञान और राग (इच्छा) द्वेष प्रयत्न के जनक हैं तथा धर्माधर्म भी प्रयत्न के जनक (कारण) हैं; ऐसा समझना चाहिये। इन न्याय वैशेषिक प्रतिपादित आत्मलिंगों में पञ्चप्राण, जीवन, गति, अन्तर्विकार आदि कर्म चेतन व जंगम के समान जड (ज्ञानादि गुण रहित) स्थावर वृक्षादि में भी उपलब्ध होते हैं इसलिये उनमें भी जीवात्मा की सत्ता सिद्ध होती है।

प्रश्न—धर्माधर्म जीवात्मा के गुण तो हो सकते हैं परन्तु लिंग नहीं हैं

क्योंकि जीवात्मा के लिङ्ग तो इच्छादि गुण ही हैं। धर्माधर्म तो अदृष्ट होने से अप्रत्यक्ष हैं उनसे आत्मा का बोध कैसे हो सकता है?

उत्तर—धर्माधर्म भी आत्मा के लिङ्ग (बोधक) हैं। क्योंकि संसार में मनुष्यादि प्राणियों में सुख दुःख व उनके साधनों की विचित्रता देखते हैं। यह विचित्रता किस कारण से है? इसका कारण जीवों के पूर्वकृत कर्म (धर्माधर्म) ही हैं अन्य कुछ नहीं।

प्रश्न—प्राणियों को नाना प्रकार के सुख व सुख साधनों तथा नानाविध दुःख व तत्साधनों को देनेवाला केवल ईश्वर ही कारण है अन्य कोई नहीं, क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है जिसको जैसा चाहे दे सकता है ईश्वर स्वतन्त्र है; यदि कर्मों के आधीन होकर ईश्वर देगा तो परतन्त्र हो जावेगा।

उत्तर—ईश्वर को सुख दुःखादि के दान में जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा करना आवश्यक है अर्थात् ईश्वर जीवों के कर्मानुसार हो उनको सुख दुःख की सामग्री देता है। जीवों के धर्माधर्म के बिना स्वतन्त्र रूप से (स्वेच्छया) देने में ईश्वर पर अन्यायाचरण का दोष आवेगा, क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् के साथ न्यायकारी भी है। वह कर्मों के बिना जीवों को कुछ भी नहीं देता; सब कुछ कर्मानुसार ही देता है। इससे उसको नियमबद्धता हो सूचित होती है तथा उच्छृङ्खलता (अविवेकिता) का अभाव ही सिद्ध होता है। ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है इसी से न्यायकारी भी है। जो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् नहीं वह न्यायकारी पूर्णरूप से नहीं हो सकता।

इसलिये प्राणियों की सुख दुःख तथा तत्साधनों की विचित्रता से उनके धर्माधर्म का अनुमान होता है। धर्माधर्म गुण हैं गुणों से गुणी नित्य जीवात्मा का बोध होता है। अतः धर्माधर्म जीवात्मा के लिङ्ग हैं।

किञ्च—न्यायशास्त्र का तो प्रमाणों द्वारा प्रमेय का प्रतिपादन करना मुख्य विषय है इसलिये उसने तदनुरूप ही प्रमाता (जीवात्मा) का प्रदिपादन किया। धर्म का प्रतिपादन करना मीमांसाशास्त्र का विषय है अतः तदनुरूप धर्मी (जीवात्मा) का स्वरूप निर्देश भी उसी का कार्य है, न्यायशास्त्र का नहीं। अतः विषयान्तर होने से धर्म गुण का लिङ्गत्वेन निर्देश न्यायशास्त्र में नहीं किया।

आठवें दिन के सम्वाद की समीक्षा समाप्त हुई।

परिशिष्टम्

प्रश्न—'वृक्षादयः सजीवाः प्राणादिमत्त्वात् मनुष्यादिवत्' इसमें वृक्षादि को सजीव सिद्धि के लिये हेतु 'प्राणादिमान्' होने का दिया है। इस हेतु से वृक्षादि को प्राणी मान लिया गया है, वृक्षादि को अप्राणी सिद्धि में यह बाधक हो गया, क्योंकि आप भी वृक्षादि को अप्राणी मानते हैं।

उत्तर—प्रथम प्राणी अप्राणी का अर्थ हृदयङ्गम कर लेना चाहिये। प्राणी नाम चेतन (ज्ञानादि गुण सहित) का है। अप्राणी नाम जड (ज्ञानादि गुण रहित) को कहते हैं। मनुष्यादि को 'प्राणी' इसलिये नहीं कहते कि उनमें प्राण अपानादि रहते हैं अपितु अन्तःकरण के कार्य ज्ञानादि रहते हैं इसलिये प्राणी कहाते हैं।

वृक्षादि स्थावरों को 'अप्राणी' इसलिये कहा जाता है कि उनमें अन्तःकरण के कार्य ज्ञान इच्छादि नहीं होते। इसलिये नहीं कि उनमें प्राणापानादि नहीं होते।

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं वा हो सकते हैं तथा सब अर्थ सर्वत्र नहीं ग्रहण किये जाते वा ग्रहण किये जा सकते। जहां जो अर्थ प्रमाणों द्वारा ग्राह्य हो वही लिया जाता है वा लेना चाहिये। इसलिये प्राणी शब्द चेतन के अर्थ में ही रूढ़ि हो गया है। तथा अप्राणी शब्द जड (ज्ञानादि गुण रहित) के लिये। ऐसा क्यों? यह प्रथम दिन के सम्वाद की समीक्षा में बताया जा चुका है। किञ्च यथा 'प्राणवान्' का अर्थ बलवान् (सामर्थ्यवान्) ही लिया जाता है। 'रूपवान् पुरुषः' 'रूपी घटः' इन दोनों का अर्थ भी समान नहीं है।

प्रश्न—पांचवें दिन के सम्वाद की समीक्षा में लिखा है—"ओषधि वनस्पति आदि में प्राण अपान आदि के कारण रसाभिसरणरूप कार्य दीखता है" परन्तु चतुर्थ दिन के सम्वाद की समीक्षा में इसका कारण 'अदृष्ट' (धर्माधर्म) को कहा गया है, यह परस्पर विरुद्ध बात है (लेख है)।

उत्तर—कोई विरोध नहीं, क्योंकि स्थावर वृक्षादि में जो कुछ भी कार्य होता है उसका मुख्य निमित्त कारण जीव का अदृष्ट ही है। प्राण अपान आदि द्वारा होनेवाले कार्य का भी निमित्त अदृष्ट ही है। उन प्राणियों के प्राणादि अदृष्ट से ही परिचालित हैं।

जिस प्रकार मनुष्यादि प्राणियों में सुषुप्तावस्था में प्राणादि का निमित्त कारण अदृष्ट को माना गया है इसी प्रकार वृक्षादि में भी समझना चाहिए।

प्रश्न—यह तो ठीक है कि वैशेषिकोक्त जीव के लिंग प्राणियों की भांति स्थावरों में भी हैं परन्तु जीवों का सम्बन्ध उनसे नहीं होता, जैसे सुख दुःख आदि का, सम्बन्ध न होने से।

उत्तर—सम्बन्ध तो मानना ही चाहिए परन्तु उनका ज्ञान उनको नहीं होता यह यथार्थ है। यदि किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न माना जावे (जीव और उन क्रियाओं का) तो उन क्रियाश्रयी द्रव्यों पर उसका स्वामित्व भी कैसे होगा तथा उस सम्बन्ध से भविष्यत्काल में परिणाम का भागी कैसे होगा? उन ओषधि आदि में जीव की प्रतिष्ठा (स्थिति) उसके कर्मानुसार ही की गई है।

इसलिये उस प्रतिष्ठा का शुभाशुभ परिणाम समय पर उसके लिए फलता है। अतः शरीरादि से उस जीव का सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। वह सम्बन्ध स्वामिभाव सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध भी उनका अदृष्टकारित है और वे क्रियायें भी सब अदृष्टकारित ही हैं। सुख दुःख की प्रतीति जीवात्मा को मन द्वारा ही होती हैं। मन श्रोत्रादि इन्द्रियों से सम्बन्ध करके तज्जन्य (इन्द्रियजन्य) लौकिक सुख दुःख का साधन बनता है, वे श्रोत्रादि इन्द्रियां भी वृक्षादि में नहीं हैं।

प्रश्न—दूसरे दिन के सम्वाद की समीक्षा में लिखा है—

'स्वप्नावस्था में जीव का सम्बन्ध बाह्यजगत् के साथ नहीं रहता परन्तु मन से और उसके द्वारा इन्द्रियों से बना रहता है।' यहां जीव का सम्बन्ध केवल मन के साथ ही रहता है। मन को 'उभयमिन्द्रियम्' कहा गया है। इसमें इन्द्रियों के धर्म मानसिक रूप में रहते हैं।

उत्तर—आपका कथन सत्य है परन्तु मन का सम्बन्ध इस अवस्था में शरीर से भी रहता है। इसीलिये वह उसको परिचालित करता रहता है। यहां 'इन्द्रिय' से अभिप्राय कर्मेन्द्रियां वा शरीर मात्र समझना चाहिए। जागृत अवस्था में भी जीव का सम्बन्ध बाह्यजगत् से मन के द्वारा ही होता है।

प्रश्न—वृक्षादिक में जैसे ज्ञान के साधन इन्द्रियां बाह्यकरण अन्तःकरण बुद्धि आदि से जीव का सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये इनको अप्राणी कहा जाता है। प्राणादि का कार्य जीव अदृष्ट (अपूर्व) द्वारा लेता है। जीव चेतन होने से उनमें दोनों धर्म ज्ञान और क्रिया स्वाभाविक हैं।

उतर—हां यह तो ठीक है क्योंकि जब किसी कारण से (राजाधिराज की आज्ञा से) राजा (प्रांतपति) का सम्बन्ध प्रधान सेनापति से (नायक) से नहीं

रहता तब सैनिकों के साथ तो उसका सम्बन्ध स्वतः (अपने आप) ही विच्छिन्न हो गया (हो जाता है) जो सैनिक सेनापति के आधीन चलते हैं। परन्तु इसलिये उनको (वृक्षादि को) अप्राणी कहा जाता है यह ठीक नहीं क्योंकि मुख्य प्राण (अन्तःकरण) के सम्बन्ध के कारण ही स्थावर जीव को अप्राणी कहना चाहिये अमुख्य (अन्तःकरण की अपेक्षा से अप्रधान) प्राण अपानादि के कारण नहीं। प्राण अपानादि का सम्बन्ध तो स्थावर शरीर से है जिनका सञ्चालन महाराजाधिराज परमेश्वर स्वयं उसी जीव के कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट रूपी प्रतिनिधि से कराता है।

'प्राणादि का कार्य जीव अदृष्ट द्वारा लेता है' इसका अभिप्राय यह भी निकल सकता है कि स्थावर वृक्षादि में प्राणापानादि नहीं होते उनमें होनेवाली वृद्धि आदि क्रियाओं को करनेवाला (साधन) अदृष्ट है, परन्तु यह मत उचित नहीं क्योंकि भौतिक क्रियाओं का साधन भौतिक ही होता है अदृष्ट (अपूर्व) भौतिक नहीं है। सर्वत्र प्राणी शरीरों में वृद्धि आदि का कारण प्राणादि हैं अप्राणी देहों में भी वही मानने चाहिएं। प्राणियों में प्राणादि का संचालक अन्तःकरण द्वारा जीव है परन्तु अप्राणी देहों में अदृष्ट द्वारा ईश्वर है। प्राणियों भी सुषुप्ति में यही कारण है। तथा स्थावर जीव महान्धकार दशा में है इसलिये उसमें कर्तृत्व नहीं घट सकता। अन्यच्च अदृष्ट (अपूर्व) जीव के आधीन (अधिकार में) नहीं है वह तो ईश्वर के आधीन है उससे वही यथा समय यथोचित कार्य लेता है (उसको प्रेरित करता है) जीव को अपने अदृष्ट का जब ज्ञान ही नहीं है तो उससे कार्य कैसे ले सकता है? एक प्रकार से अदृष्ट को ही जीव पर (प्रभावी) मानना चाहिए, जीव को अदृष्ट पर नहीं। जीव का स्वाभाविक ज्ञान दिव्य (अलौकिक) है वह न घट सकता है (न्यून हो सकता है) और न बढ सकता है। घटना बढना नैमित्तिक ज्ञान का होता है। इसी प्रकार जीव के स्वाभाविक कर्म के विषय में भी समझना चाहिए। इसलिये जीव के स्वाभाविक ज्ञान कर्म उपभोग में अकिञ्चित्कर हैं। मुक्ति में भी जीव के ज्ञान कर्म नैमित्तिक होते हैं, धर्म विशेष से प्रसूत होते हैं।

प्रश्न—वृक्षादि स्थावरों का जीव किस स्थान (अवयव) में रहता है?

उत्तर—वृक्षादि का जीव उनके मूल आधार (जड़) में रहता है।

प्रश्न—प्राणियों में जीव शरीर के किस स्थान पर (अवयव विशेष में) निवास करता है (रहता है)।

उत्तर—प्राणि-शरीर में जीव हृत्प्रदेश (हृदय) में रहता है।

प्रश्न—हृदय कहां है? किस में रहता है?

उत्तर—पशु आदि जंगम प्राणियों (तिर्यग् योनियों) में एक ही हृदय होता है जो कि उरःस्थल (छाती) में है। परन्तु मनुष्य के दो हृत्प्रदेश होते हैं।

प्रश्न—मनुष्य का दूसरा हृत्प्रदेश कहां है? और उसका क्या लाभ है (प्रयोजन है)।

उत्तर—दूसरा हृदय शिर के अन्दर ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् सहस्रारचक्र में है। जीव अन्य सब कार्य तो उरःस्थल स्थित (छाती में वर्तमान) हृदय में रहता हुआ कर सकता है परन्तु ब्रह्म साक्षात्कार (ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन) केवल शिरस्थ हृत्प्रदेश में ही कर सकता है; अर्थात् ब्रह्म के साक्षात् दर्शन के लिए जीव को उरःस्थल स्थित हृदय को छोड़कर ऊर्ध्वस्थ हृत्प्रदेश में जाना पड़ता है। जिस प्रकार एक विशाल गृह में भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये पृथक्-पृथक् कक्ष (कार्यालय) होते हैं तथा वहां तत्तत्कार्यार्थ उपयुक्त साधन सामग्री विद्यमान रहती है। जिस प्रकार का उत्तम, मध्यम, अधम, स्थूल वा सूक्ष्म कार्य होता है उसकी सिद्धि के लिये साधन भी उसी प्रकार के अपेक्षित होते हैं। 'परमपुरुषसाक्षात्कारायापि पुरुषेण प्रधानस्य सर्वथा तमोरहित रजोलेशमलापेतं सत्वगुणाढ्यम् अवकाशम् (स्थानम्) अपेक्ष्यते, अर्थात् ईश्वर साक्षात्कार के लिये जीव को अत्यन्त शुद्ध निर्दोष एकान्त की आवश्यकता है जहां केवल सत्वगुण (प्रकाश ही प्रकाश) हो। इस प्रकार का स्थान इस मनुष्य देह में वही हृत्प्रदेश है।

प्रश्न—उस स्थान पर (हृत्प्रदेश में) मनुष्य का आत्मा कब निवास करता है और किस प्रकार वहां निवास का अधिकारी होता है?

उत्तर-सत्य (मनसा वाचा कर्मणा सत्याचरण) तप (धर्माचरण) नित्य ब्रह्मचर्य आदि साधन सम्पन्न क्षीणदोष संयमी योगी जन समाधि दशा में ही वहां निवास करता है।

प्रश्न—मन का निवास स्थान कहां है?

उत्तर—मन के रहने का मुख्य स्थान उरःस्थलस्थित हृत्प्रदेश है। वह वहां से तीव्रतम गति से सर्वत्र शरीर में जाता आता है।

प्रश्न—क्या ब्रह्म साक्षात्कार के समय मन (अन्तःकरण) जीवात्मा के साथ जाता है?

उत्तर—ब्रह्म साक्षात्कार के समय जीवात्मा की सब शक्तियां (दर्शन, श्रवण, मनन आदि) उसके साथ होती हैं, उन शक्तियों के भौतिक संग (साधन) नहीं होते।

प्रश्न—ऋषियों को मन्त्रों का (वेदों का) प्रकाश व मन्त्रार्थ दर्शन कौनसे हृत्प्रदेश में होता है ?

उत्तर—उरःस्थल स्थित हृदय में, क्योंकि मन्त्रार्थ दर्शन अन्तःकरण शुद्ध अवस्था (सुसंस्कृतावस्था) में होता है।

प्रश्न—वृक्षादि स्थावरस्थ जीवात्मा सुख दुःख आदि को प्राप्त क्यों नहीं होता वा क्यों नहीं कर सकता ?

उत्तर—जिस प्रकार बहरे, अन्धे प्राणी की श्रोत्र व चक्षु इन्द्रिय तो आत्मस्थ हैं परन्तु उस श्रोत्र व चक्षु इन्द्रिय का बाह्यस्थान (साधन) शरीर में न होने वा विकृत हो जाने से वह सुनना व देखना नहीं कर सकता, इसी प्रकार जीवात्मा मन के द्वारा ही ज्ञान व सुख दुःख आदि का अनुभव करता है, परन्तु वृक्षादि में हृदय (हृत्प्रदेश) नहीं है। इसलिये मन का निवास स्थान न होने से मन भी अन्य इन्द्रियों के समान आत्मस्थ ही रहता है। कहीं जा नहीं सकता इसलिये जीव को ज्ञान आदि प्राप्त नहीं होते। जैसा कि गाढनिद्रा में होता है।

इति स्थावर जीव-मीमांसा।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ-पं०	अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ-पं०	अशुद्धि	शुद्धि
११, ३१	भाग	भान	३२, ३	आश्रम	आश्रय
१५, ३०	शब्द से	शब्द में	४३, २९	सर्वांग	सर्वांश
१६, १०	( )	होंगे– एक जो प्राणी तो नहीं उसके समान है; दूसरा	४६, १०	देना अहिंसा	देना हिंसा
			४९, २०	लक्षण आदि	लक्षणा आदि
			५२, ८	फुस्तक	पुस्तक
			६०, १५	अनेक	उनके
१८, २	किन्तु तर्क प्रमाण	किन्तु प्रमाण	६३, ९	धाम्	द्याम्
२५, ६ से आगे छूट गया—		इस विषय में आपका लेख नवीन वेदान्तियों के समान है।	६३, १०	तैजस शरीरवाले,	सूर्य में तैजस शरीरवाले
			६३, २४	आकाश करके	आकाश न करके
			६४, २७	उपभोग	उपयोग
			६६, १०	उसका आकाश में	उसका (परमात्मा का) आकाश में
२५, १५	,, ,,	वेदान्तदर्शन, शांकरभाष्य (१-१-१)			
२८, १८	अवस्था में	अवस्थायें	६८,	(सतोगुण प्रधान)	(सत्त्वगुण प्रधान)
२८, १८	वृक्ष सुषुप्ति	वृक्षस्थ जीव सुषुप्ति			